शोधादर्श

७३

महाराष्ट्र प्रदेश में एलोरा में इन्द्र-सभा गुफा
दो नक्काशीदार शिला स्तंभों से आवृत्त आंगन

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ

अम्बिका, इन्द्र-सभा, जैन गुहा, एलोरा, महाराष्ट्र

चित्र सौजन्यः श्री अनुभव श्रीवास्तव, भिलाई

आद्य सम्पादक	:	(स्व.) डॉ. ज्योति प्रसाद जैन
पूर्व प्रधान सम्पादक	:	(स्व.) श्री अजित प्रसाद जैन
पूर्व सम्पादक	:	(स्व.) श्री रमा कान्त जैन
मार्गदर्शक	:	डॉ. शशि कान्त
सम्पादक	:	श्री नलिन कान्त जैन
सह–सम्पादक	:	श्री सन्दीप कान्त जैन
	:	श्री अंशु जैन 'अमर'
	:	डॉ. (श्रीमती) अलका अग्रवाल

प्रकाशक :

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ. प्र.

ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ - २२६ ००४, टेलीफोन सं. (०५२२) २४५१३७५

णाणं णरस्स सारं - सच्चं लोयम्मि सारभूयं

ज्ञान ही मनुष्य जीवन का सार है

सत्य ही लोक में सारभूत तत्व है

शोधादर्श -७३

वीर निर्वाण संवत् २५३७ जुलाई, २०११ ई.

विषय क्रम

१.	सम्पादकीय	श्री नलिन कान्त जैन	४
२.	गुरुगुण-कीर्तनः कविवर श्री द्यानतराय	श्री रमा कान्त जैन	५-७
३.	जैन धर्म-संस्कृति का भारतीय संस्कृति में योगदान	डॉ. ज्योति प्रसाद जैन	८-१०
४.	विचार विन्दुः पहला विवाह क्या विधवा विवाह ही नहीं था?	श्री अजित प्रसाद जैन	११-१२
५.	एलोरा की देवी प्रतिमाः इन्द्राणी या अम्बिका	डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव	१३-१५
	इन्द्र-सभा गुफा मंदिर	डॉ. शशि कान्त	१५

६. प्रजातंत्र में सह-अस्तित्व की उपयोगिता — श्री सचिन्द्र शास्त्री १६-१८
७. मन और ध्यान — डॉ. संजय कुमार जैन १९-२२
८. समाज चिन्तनः एकान्तवाद एवं स्वछंदता अनुचित — श्री ललित कुमार नाहटा २३-२४
९. समाज दर्शनः बिखरते सपने — श्रीमती शेफाली मित्तल २५-२७
१०. Interpreting the Ancient Epigraphs of India — डॉ. शशि कान्त २८-४४
११. महावीर सन्देश (पद्य) — पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' ४५-४६
१२. देश और धर्म (पद्य) — डॉ. परमानन्द जड़िया ४६
१३. उद्बोधनः रोया मैं (पद्य) — श्री राजीव कान्त जैन ४७
१४. सागर और कूप (पद्य) — श्री अमरनाथ ४८-४९
१५. तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति उ. प्र. प्रतिवेदन वर्ष २०१०-११ — श्री नलिन कान्त जैन ५०-५३
१६. पुण्य तिथि पर पुनीत स्मरण — श्री नलिन कान्त जैन ५४-५५
श्री रमा कान्त जैन
डॉ. ज्योति प्रसाद जैन
श्री अजित प्रसाद जैन
१७. आभार ५५
१८. समाचार विविधा — श्री अंशु जैन 'अमर' ५६-५९
महावीर जयन्ती
पुस्तकालय स्थापना दिवस और श्रुतपंचमी पर्व
वीर शासन जयन्ती : वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली
जैन मिलन, लखनऊ
१९. साहित्य सत्कार — डॉ. शशि कान्त ६०-६७
साहित्य मनीषी की कीर्ति स्मृतियां
जैन पूजा काव्यः एक चिन्तन
जैन श्वेताम्बर गच्छों का संक्षिप्त इतिहास
जैन एकता का प्रश्न
धर्म का मर्म

जैन धर्म की ऐतिहासिक विकास यात्रा
धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्म
श्रावक धर्म और उसकी प्रासंगिकता
अध्यात्मवाद और विज्ञान
जैन धर्म में नारी की भूमिका
अहिंसा की प्रासंगिकता
मेरा कुछ न, तुम्हारा कण कण
कृष्ण सुदामा
जीवन है अनमोल
नयनानंद यति कृत विलास
देवव्रत
जैन तीर्थ वन्दना (तमिलनाडु विशेषांक)
स्थूलिभद्र संदेश (विशेषांक)
धर्ममंगल (धर्म मंथन)

२०. अभिनन्दन ६७-६८
२१. शोक संवेदन ६८
२२. पाठकों के पत्र ६९-७२
श्री अमरनाथ, डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव
डॉ. ऋषभचन्द्र जैन, श्री कैलाशनारायण टन्डन
डॉ. परमानन्द जड़िया, श्री प्रेम कुमार जैन
डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल, श्री विचक्षणश्री स्वाध्याय केन्द्र
श्री संघवी मिट्ठूलाल डागा

सम्पादकीय

हम अपने सभी सुधी पाठकों के प्रति अपनी कृतज्ञता का ज्ञापन करना आवश्यक समझते हैं जिन्होंने समय-समय पर हमारा मार्गदर्शन किया और हमें सत्प्रेरणा दी।

यद्यपि प्रूफ संशोधन में पर्याप्त सतर्कता बरती जाती है तो भी कुछ त्रुटियां अनावधानतावश रह जाती हैं। **शोधादर्श**- ७२ के पृष्ठ के ३ पर पंक्ति ४ में **वैशाख** के स्थान पर **चैत्र** पढ़ा जाये और पृष्ठ २१ पर ३६वीं पंक्ति में **Sammana** के स्थान पर **Samana** पढ़ा जाये।

तीर्थंकरवाणी के सम्पादक डॉ. नेमचंद्र जैन, **दिशाबोध** के सम्पादक डॉ. चीरंजीलाल बगड़ा और **श्रुत संवर्धिनी** के सम्पादक डॉ. विजय कुमार जैन ने अपनी पत्रिकाओं में **शोधादर्श** में प्रकाशित सामग्री का उपयोग किया है, इसके लिए हम उनके आभारी हैं। अन्य पत्र-पत्रिकाएं भी हमारी पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का उपयोग कर सकती हैं परन्तु उन्हें इसका श्रेय स्वीकार करना चाहिए और पूर्ण संदर्भ देना चाहिए।

सभी पाठकों से यह निवेदन है कि वे पता परिवर्तित होने पर उसकी सूचना देने की कृपा करें। मेरठ के श्री धन प्रकाश जैन, सिवनी के प्रा. डॉ. उत्तमचंद्र जैन और पुणे के श्री पारस सुधीर शहा जैन ने अपने परिवर्तित पते की सूचना दी जिसके लिए हम आभारी हैं।

कुछ अभिदाताओं का वर्ष २०११ का शुल्क प्राप्त हो गया है। अन्य अभिदाताओं एवं पाठकों से निवेदन है कि वे वर्ष २०११ का शुल्क रु० ६०/- यथाशीघ्र भेजने का अनुग्रह करें।

शोधादर्श अथवा **तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति** के सम्बन्ध में जो पत्र-पत्रिकाएं और साहित्य भेजा जाये तथा पत्र-व्यवहार किया जाये वह **ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४** के पते पर भेजा जाये। पत्र-पत्रिकाओं की कृपया एक ही प्रति सम्पादक, **शोधादर्श**, को उपर्युक्त पते पर भेजी जाये और स्व. श्री अजित प्रसाद जैन, स्व. डॉ. ज्योति प्रसाद जैन, स्व. श्री रमा कान्त जैन तथा डॉ. शशि कान्त के नाम से अतिरिक्त प्रति अलग से न भेजी जाये।

सभी पाठकों एवं विद्वान लेखकों के सहयोग और सद्भाव के लिए सम्पादक मंडल अपना आभार व्यक्त करता है।

- नलिन कान्त जैन

सम्पादक

कविवर श्री द्यानतराय

(संवत् १७३३-१७८३, ई.सन् १६७६-१७२६)

- श्री रमा कान्त जैन

सामान्यतया सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से उन्नीसवीं शतीं के मध्य का काल, जो हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल के नाम से जाना जाता है, काव्य-शास्त्र के लक्षण-ग्रन्थों के निर्माण, काव्य में कला पक्ष के उभार और अन्य रसों की अपेक्षा श्रृंगार रस के परिपाक के लिए प्रख्यात है। यह वह युग था जब देश की प्रभुता, वीरता से विमुख हो विलासिता की ओर उन्मुख थी। अतः संरक्षण में साहित्य-सृजन करने वाले अपने आश्रयदाताओं की रुचि के अनुरूप श्रृंगारिक रचनाएं रचकर उनका मनोरंजन करने में संलग्न थे। वीर रस का संचार करने वाले भूषण जैसे कवि तो अपवाद-स्वरुप थे। नीति की बातें बताने का साहस भी बिहारी जैसे कुछ ही कवियों ने किया, शेष तो विलासिता के वातावरण को उद्दीप्त करने और कल्पनालोक में खोये रहने में मस्त और व्यस्त रहे। ऐसा करने में भगवद्-भक्ति के नाम पर वे अपने आराध्यों को अपनी रचनाओं में सामान्य नायक-नायिका के स्तर पर उतार लाये। किन्तु उस काल में कुछ ऐसे भी कवि हुए जो पराङ्मुखी न होकर स्वान्तः सुखाय साहित्य-साधना कर रहे थे, जिन्होंने अपने अन्तर्तम की आवाज को जाना और लोगों को जीवन के यथार्थ से अवगत कराते हुए उनके हित का मार्ग सुझाया।

द्यानतराय उन कवियों में से हैं जिन्होंने न तो अपने युग की प्रवृत्ति के अनुरुप श्रृंगार रस की धारा प्रवाहित की और ना ही लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण किया। उनकी काव्य-कृतियों में शिवं अर्थात् लोक-हित की भावना प्रमुख रहते हुए भी सत्यं और सुन्दरं की अवहेलना नहीं की गई। उनकी रचनाएं पढ़कर हृदय में उदात्त भावनाओं का संचार हुए बिना नहीं रहता।

विक्रम संवत् १७३३ (ई.सन् १६७६) में जन्मे द्यानतराय गोयल गोत्रीय अग्रवाल जैन थे। इनके पिता श्यामदास और पितामह वीरदास थे। पं. बिहारीदास और पं. मानसिंह इनके धर्मगुरु रहे। इनका विवाह १५ वर्ष की आयु में ही हो गया था। इन्होंने, जिन कृतियों की रचना की उनमें उल्लेखनीय हैं: **सुबोधपंचासिका, धर्मपच्चीसी, व्यसन-त्यागशोडष, सुखबत्तीसी, विवेकबीसी, धर्मरहस्य बावनी, त्योहार पच्चीसी, सज्जनगुणदशक, उपदेशशतक, दानबावनी,** और **पूरण पंचासिका।** ये सब प्रकीर्णक रचनाएं हैं। कवि ने स्वयं इन सबको **धर्मविलास** नाम से संवत् १७८० (सन् १७२३ ई.) में संकलित किया, ऐसा बताया जाता है।

आगरा निवासी होने के कारण ब्रजभाषा को अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाना इनके लिए स्वाभाविक था और युगानुरूप उस पर उर्दू का प्रभाव पड़ना सहज था। इनकी रचनाओं के रसास्वाद से परिचित कराने के लिए कुछ अंश उद्धृत हैं जो काव्य-रसिकों की रुचि उनकी कृतियों के प्रति जगाने में समर्थ होंगे।

कवि ने निम्नलिखित कवित्त में संसार का कैसा जीता-जागता चित्र खींचा है -

रुजगार बनै नाहिं धन तौ न घर माहिं,
खाने की फिकर बहु नारि चाहै गहना।
देने वाले फिरि जाहिं मिलै तो उधार नाहिं,
साझी मिलैं चोर धन आवे नाहिं लहना।
कोऊ पूत ज्वारी भयौ घर माहिं सुत थयों,
एक पूत मरि गयौ ताको दुःख सहना।
पुत्री वर-जोग भई ब्याही सुता जम लई,
एते दुःख सुख जानै तिसे कहा कहना।।

प्रस्तुत सवैये में सूम का चित्रण और उसकी काग से तुलना किया जाना दृष्टव्य है -

सूमकौ जीवन है जग में कहा, आप न खाय खवाय न जानै।
दर्व के बंधन माहिं बंध्यों दृढ़, दान की बात सुनै नाहिं कानै।।
तातें बढौ गुन काग मैं देखिये, जात बुलाय के भोजन ठानै।
लोभ बुरौ सब औगुन मैं इन, ताहि तजै तिसको हम मानै।।

दान की सार्थकता का निरूपण करते हुए कवि कहता है -

दीनकौ दीजिये होय दया मन, मीतकौ दीजिये प्रीति बढावै।
सेवक दीजिए काम करै बहु, साहब दीजिये आदर पावै।।
शत्रु को दीजिये बैर रहै नहिं, भाट को दीजिये कीरति गावै।
साध कौ दीजिये मोख के कारन, 'हाथ दियो न अकारथ जावै'।।

इनके आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत अनेक पद-भजन-पूजा आज भी अध्यात्म-रसिकों को कण्ठस्थ हैं। कुछ पद-पंक्तियां निदर्शन हेतु प्रस्तुत हैं -

मैं कब निज आतम ध्याऊँगा ?
रागादिक परिणाम त्याग कै, समता सौं लौ लगाऊंगा।

जनसामान्य को प्रेरित करते हुए द्यानत कहते हैं -

आतम जानो रे भाई,
जैसी उज्ज्वल आरसी रे, तैसी आतम जोत।
काया करमन सौं जुदी रे, सबकौ करै उदोत।

❖ ❖ ❖

आतम अनुभव करना रे भाई,
सकल ग्रन्थ दीपक हैं भाई, मिथ्यातम को हरना रे।
कहा करें ते अन्धपुरुष को, जिन्हैं उपजना मरना रे।।

❖ ❖ ❖

आतमरूप अनुपम है घट मांहि बिराजै,
जाके सुमरन जाप सो, भव-भव दुख भाजै।।

❖ ❖ ❖

ऐसो सुमिरन करिये रे भाई
पवन थमै मन कितहु न जाई।।
सो तप तपौ बहुरि नहीं तपना,
सो जप जपौ बहुरि नहीं जपना।।
सो व्रत धरो बहुरि नहीं धरना,
ऐसे मरो बहुरि नहीं मरना।।

द्यानत जब स्वयं आध्यात्मिक भावना में डूब गये तो कहने लगे -

हम लागे आतमराम सौं,
विनाशीक पुद्गल की छाया, कौन रमैं धन-दाम सौं।।

❖ ❖ ❖

अब हम आतम को पहचाना,
जैसा सिद्धक्षेत्र में राजै, तैसा घट में जाना।।
देहादिक परद्रव्य न मेरे, मेरा चेतन बाना,
द्यानत जो जाने सो सयाना, नहिं जाने सो अयाना।।

❖ ❖ ❖

अब हम अमर भये न मरेंगे।
देह विनासी मैं अविनासी, भेद-ग्यान करैंगे।
नासी जासी हम थिरवासी, चौखे हो निखरैंगे।।

इनकी रचनाओं में यदा-कदा रहस्यवादी स्वर भी गूंजते हैं -

अनहद सबद सदा सुना रे।
आप ही जानै, और न जाने
कान बिन सुनिये धुन रे।।

जैन धर्म-संस्कृति का भारतीय संस्कृति को योगदान

- डॉ. ज्योति प्रसाद जैन

जैन धर्म और संस्कृति को समझने के लिये निम्नलिखित स्थूल तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक है -

१. जैनधर्म जिन, आर्हत्, व्रात्य, श्रमण या निर्ग्रन्थ परम्परा का इतिहास काल के प्रारम्भ के बहुत पूर्व से ही अविच्छिन्न सजीव एवं सफल प्रतिनिधित्व करता आ रहा है। वह विशुद्ध भारतीय परम्परा है, और अत्यन्त प्राचीन है। वह प्राचीन मनुष्यों की 'मानव' परम्परा है, आर्य परम्परा है यद्यपि अवैदिक है और सम्भवतया वैदिक धर्म एवं सभ्यता के उदय के पूर्व से ही इस देश में विद्यमान है।

२. इतिहास काल में प्रारम्भ से लेकर उत्तर मध्यकाल पर्यन्त जैन धर्म का प्रचार-प्रसार प्रायः सम्पूर्ण देश में, उसके समस्त वर्गों एवं जातियों में रहा है, कहीं कभी कम और कभी अधिक। किसी-किसी युग और प्रदेश में तो सम्पूर्ण जनसंख्या का एक तिहाई से भी अधिक जैनों का अनुपात रहा है, और द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) की अपेक्षा वह अनुपात कहीं अधिक रहा। जैनों की वर्तमान अल्प संख्या अनेक राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक कारणों तथा बहुसंख्यक धर्म परिवर्तन, विशेष रूप से १८वीं-१९वीं शताब्दियों में, होने का परिणाम है।

३. विशुद्ध ऐतिहासिक काल से पूर्व की श्रमण धारा से सम्बद्ध अनुश्रुतियां एवं पुरा-ऐतिहासिक परम्पराएं जैनों द्वारा उसी प्रकार सुरक्षित रखी गई हैं जिस प्रकार वैदिक परम्परा के अनुयायियों ने अपनी धारा से सम्बन्धित अनुश्रुतियों आदि को सुरक्षित रखा है।

४. भारतीय साहित्य एवं कला का प्रारम्भ और विकास जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्मानुयायियों ने ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी में प्रायः साथ ही साथ, समान उत्साह एवं मनोयोग के साथ किया।

५. जैन साहित्य की मौलिक परम्परा वेदों की रचना के बहुत पूर्व आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के समय तक पहुंचती है। उनका ग्रन्थ प्रणयन कम से कम गौतम गणधर (लगभग ५०० ई.पू.) तक और पुस्तक रूप लिखित साहित्य की परम्परा भी प्रथम शती ईस्वी तक पहुंचती है।

६. कला के क्षेत्र में यदि सिन्धु घाटी की पुरा-ऐतिहासिक एवं कथंचित् विवादास्पद कृतियों को छोड़ भी दिया जाय, तो भी स्तूपों, चैत्यों, पर्वतीय गुफाओं, देव मन्दिरों, मूर्तियों आदि का निर्माण जैनों ने जैनेतरों की अपेक्षा पहले प्रारम्भ किया। जैन पुरातत्व एवं जैनों का विविध कला वैभव इस महा देश के कोने-कोने में व्याप्त है और वह प्रायः सभी युगों एवं शैलियों का सुष्ठु प्रतिनिधित्व करता है।

७. विभिन्न भाषात्मक, विविध विषयक एवं विपुल रसमय जैन साहित्य देश के अनगिनत शास्त्र भण्डारों में आज भी संग्रहीत है। उसका एक बड़ा भाग अभी भी अप्रकाशित एवं अल्प प्रचारित है।

८. जन-जीवन को स्पर्श करने के उद्देश्य से ही जन-भाषाओं (प्रादेशिक भाषाओं) में प्रचार करने एवं साहित्य सृजन करने में जैन सन्त और लेखक समस्त भारतीयों में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान पर्यन्त अग्रणी रहे हैं।

९. दार्शनिक एवं तात्विक चिन्तन में जीव और अजीव तत्वों का गहनतम विवेचन, कर्म सिद्धान्त, मोक्ष और निर्वाण का स्वरूप, ज्ञान-ज्ञेय मीमांसा, वस्तु स्वरूप के प्रति अनेकान्तिक दृष्टि और अभिव्यक्ति की स्याद्वाद शैली जैन दर्शन की अपनी विशिष्ट एवं विलक्षण उपलब्धियां रही हैं।

१०. अहिंसा और अपरिग्रह पर आधारित तप-त्याग-संयम प्रधान जैन आचार-पद्धति जीवन को नैतिक, सदाचारपूर्ण, स्वच्छ और सात्विक बनाने में सहायक रही है और उसका प्रभाव जैनों के सम्पर्क में आने वाले जैनेतर समुदायों पर भी प्रभूत हुआ है। उदाहरणार्थ, जैनों के प्रभाव से श्रीशैव, वैष्णव, लिंगायत एवं अनेक मध्यकालीन सन्त सम्प्रदायों में जैनों की भांति ही मांस-भक्षण एवं मद्यपान आदि निषिद्ध हुए और शाकाहार का प्रचलन हुआ तथा जीव दया की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला।

११. जैन वीतराग देव के उपासक हैं। अतएव उनकी उपासना और पूजा-पद्धति भी अन्य आस्तिक धर्मों से विलक्षण है। वह अपने इष्ट देव को कुछ भेंट करके प्रसन्न करने या उससे कुछ याचना करने, उसका वरदान या कृपा प्राप्त करने की अपेक्षा नहीं रखती और ना ही उसके कोप या अभिशाप की शंका से भयभीत होने की कोई गुंजायश रखती है। उसकी भक्ति तो प्रशस्त गुणानुराग है जो अपने आदर्श के गुणों का स्मरण, भजन, चिन्तवन द्वारा उसके उन गुणों को स्वयं प्राप्त करने की आकांक्षा से प्रेरित होती है। यहां तो अपने परमात्मा की उपासना द्वारा आत्मा परमात्मा बनने को अभिलाषी, उत्सुक और प्रयत्नवान होती है। अतएव जैन पूजा-अनुष्ठानों,

पर्व-त्यौहारों, तीर्थ यात्राओं आदि समस्त धार्मिक कृत्यों में व्रत, उपवास, संयम, त्याग, दयाशीलता, स्वाध्याय व ध्यान पर ही बल दिया जाता है और लक्ष्य आत्मोन्नयन होता है।

उपरोक्त एकादश सूत्रों को ध्यान में रखते हुए यदि जैन धर्म और उसकी संस्कृति के विभिन्न अंगों का सम्यक् अध्ययन किया जाय तभी उनका तथा भारतीय संस्कृति में उनके महत्वपूर्ण योगदान का उचित मूल्यांकन किया जा सकता है।

जैन साहित्य और कला की बहुधा साम्प्रदायिक अथवा धर्म विशेष से सम्बन्धित कहकर उपेक्षा कर दी जाती है। यह विचित्र बात है कि वाल्मीकि की **'रामायण'** अथवा गोस्वामी तुलसीदास का **'रामचरितमानस'** तो शुद्ध साहित्य में परिगणित होता है परन्तु विमलसूरि का **'पउमचरिउ'** अथवा स्वयंभू की **'रामायण'** अथवा पम्प की कन्नड़ **'रामायण'** को साम्प्रदायिक घोषित कर दिया जाता है। भर्तृहरि, कबीर, नानक, दादू, ज्ञानदेव आदि की रचनायें तो असाम्प्रदायिक साहित्य हैं और उन्हीं के समकक्ष योगीन्दु, रामसिंह, देवसेन आदि जैन सन्तों की वाणियां साम्प्रदायिक हो जाती हैं। विद्यापति, मीरा, सूर आदि के पद-भजन तो साहित्य हैं और उन्हीं जैसे भूधर, दौलत, द्यानत, आनन्दघन, चिदानन्द आदि जैन भक्तों के पद-भजन साम्प्रदायिक हैं। तर्क, छन्द, व्याकरण, काव्य-शास्त्र, अलंकार, कोश, आयुर्वेद, गणित-शास्त्र, ज्योतिष इत्यादि अनेक लौकिक विषयों एवं ज्ञान-विज्ञान पर रचित जैन साहित्य तथा प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, तमिल, कन्नड़, हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि विभिन्न भाषाओं में विभिन्न शैलियों में रचित उच्चकोटि के जैन काव्य, नाटक, चम्पू एवं विपुल जैन कथा साहित्य को धार्मिक साहित्य मानकर उन-उन विधाओं में जैनों के महत् योगदान की उपेक्षा कर दी जाती है। यही दृष्टि जैन कला (वास्तु, मूर्त, स्थापत्य, चित्र, संगीत आदि) के सम्बन्ध में भी रही है। जैन संस्कृति की अन्य अनेक देनों के विषय में भी यही एकांगी दृष्टिकोण बहुधा बरता जाता रहा है। इस सब का दुष्परिणाम यह हुआ कि भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, समाज-शास्त्र और इतिहास का अध्ययन अपूर्ण रहा है। जैन-संस्कृति भारतीय-संस्कृति का अभिन्न अंग है। वह जहां अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखती है वहीं वह अखिल भारतीय संस्कृति का अविभाज्य अंग होने में भी गौरवान्वित है।

विचार विन्दु

पहला विवाह क्या विधवा विवाह ही नहीं था ?

- श्री अजित प्रसाद जैन

जैन अनुश्रुति के अनुसार वर्तमान अवसर्पिणी काल खण्ड के पहले तीन कालों में भोगभूमि का प्रवर्तन था तथा मानव पूर्णरूप से प्रकृति पर आश्रित था। उसकी संख्या सीमित थी तथा उसने अभी सभ्यता का प्रकाश नहीं देखा था। उसके चारों ओर प्राकृतिक सम्पदा बिखरी पड़ी थी। नाना प्रकार के वृक्षों से जिन्हें पुराणकारों ने अपनी काव्यात्मक भाषा में कल्पवृक्षों की संज्ञा दी है, उसकी सभी भौतिक आवश्यकताएं अनायास पूरी हो जाती थीं तथा मनुष्य को जीवन यापन के लिए किसी प्रकार का श्रम करने की आवश्यकता नहीं थी। उनकी छोटी-मोटी समस्याओं का समाधान मनुष्य जाति के मुखिया जिन्हें विशिष्ट प्रज्ञा सम्पन्न होने के कारण 'कुलकर' की संज्ञा दी गई है, कर देते थे। भोगभूमि के अन्तिम चरण में अन्तिम कुलकर श्री नाभिराय तथा उनके पुत्र आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव हुए। श्री ऋषभदेव कर्मभूमि के आदि प्रवर्तक होने के कारण आदि-पुरुष भी कहलाए।

श्री ऋषभदेव के समय में मानव जाति की संख्या में अभिवृद्धि के कारण मनुष्य की उस आदिमकाल की जीवन यापन की अति सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी प्राकृतिक साधन अपर्याप्त सिद्ध होने लगे, तब प्रज्ञा-पुरुष ऋषभदेव ने कृषि का आविष्कार कर आतुर प्रजाजनों को खेती करके अन्न उपजाना सिखाया, उन्हें एक स्थान पर समाज के रूप में संगठित होकर रहने की प्रेरणा दी तथा सामाजिक व्यवस्था के लिए नियम बनाए। उन्होंने लिपि तथा अंकगणित का भी अविष्कार किया तथा उन्हें प्रजाजनों को सिखाया। उन्होंने अन्य ललित कलाओं का भी सृजन किया। कृतज्ञ मानव जाति ने उन्हें आदि-गुरु की संज्ञा से विभूषित किया। श्री ऋषभदेव ने मनुष्य जाति को श्रम की महत्ता से अवगत कराया तथा इस प्रकार श्रमण संस्कृति के सूत्रपात के साथ कर्मभूमि का शुभारम्भ हुआ।

भोगभूमि की व्यवस्था में युगलिया बच्चे पैदा होते थे तथा यौवनावस्था प्राप्त होने

पर आपस में ही यौन सम्बन्ध स्थापित कर लेते थे और आगे युगलिया संतान उत्पन्न करते थे। श्री ऋषभदेव के माता-पिता नाभिराय तथा मरुदेवी भी इसी प्रकार जन्मे एक ही माता-पिता की युगलिया संतान थे।

चूंकि भगवान ऋषभदेव का जन्म भी तृतीय काल की समाप्ति में कुछ वर्ष शेष रहने पर भोगभूमि के अन्तिम चरण में ही हुआ था, श्वेताम्बर अनुश्रुति में उन्हें भी नाभिराय व मरुदेवी की युगलिया सन्तान ही बताया गया है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों अनुश्रुतियों में श्री ऋषभदेव की दो पत्नियां बताई गई हैं। दिगम्बर अनुश्रुति में उनका विवाह कच्छ और सुकच्छ की कन्याओं नन्दा और सुनन्दा के साथ एक साथ हुआ बताया गया है, परन्तु श्वेताम्बर अनुश्रुति के अनुसार उनकी एक पत्नी (चक्रवर्ती भरत की जननी) उनकी युगलिया बहन सुमंगला थी तथा दूसरी पत्नी सुनन्दा के साथ उनका विधिवत विवाह हुआ था। कहा जाता है कि सुनन्दा के युगलिया पुरुष की एक दिन जब युगल एक ताड़वृक्ष के नीचे बालकोचित क्रीड़ा कर रहे थे, सिर पर एक भारी ताड़फल आ गिरने से अकाल मृत्यु हो गई थी जो उस समय के लिए एक अनहोनी घटना थी। प्रजाजन उस एकाकी विचरती कन्या को लेकर नाभिराय के पास आए कि इस कन्या की क्या व्यवस्था की जाए। नाभिराय ने उस कन्या को श्री ऋषभदेव की धर्मपत्नी बनाने हेतु स्वीकार कर लिया। तब श्री ऋषभदेव ने उस कन्या से विवाह कर विवाह-प्रणाली का शुभारम्भ किया।

यदि श्वेताम्बर परम्परा में संजोई अनुश्रुति (देखें, श्री हेमचन्द्राचार्यः **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र** - हिन्दी अनुवाद, **तित्थयर**, अगस्त १९९२, पृ० १२३-१२५) पर विश्वास किया जाए जो सत्यता के अधिक समीप मालूम पड़ती है तो प्रथम विवाह को विधवा विवाह की संज्ञा देना अनुचित न होगा।

एलोरा की देवी प्रतिमा : इन्द्राणी या अम्बिका

- डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव

कुछ समय पहले कामराज विश्वविद्यालय, मदुरै, के मेरे मित्र प्रो. जी. सेतुरामन ने मेरे लिए दो-तीन मूर्तिकला-सम्बन्धी पुस्तकें भेजीं। उनमें एक थी **Indian Sculpture: The Themes and Legends by Mohinder Singh Randhawa and Doris Schreier Randhawa** (Bombay, 1985)। इस पुस्तक के चित्र सं. १२० पर ललितासन में एक देवी बैठी थी, उसके आसन के समक्ष एक सिंह बैठा था, एक नग्न बालक देवी के बाएँ पार्श्व में खड़ा था, देवी के पीछे फल और पत्तियों वाला सघन आम्रवृक्ष था और शीर्ष पर एक गोल घेरे में पद्मासन में बैठी एक लघु पुरुष-आकृति थी। रन्धावा-द्वय ने इस देवी को इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी बताया था। वाहन सिंह इन्द्राणी के साथ क्यों? यही विचार करके मैंने सिंह, आम्रलुम्बी तथा ऊपर जिन-बिम्ब के आधार पर इसे अम्बिका माना। मैने जब अपने विचार प्रो. सेतुरामन को लिखे तो उन्होंने मेरी पहचान को सही माना, किन्तु उन्होंने मार्गरिट स्टुटले की पुस्तक **The Illustrated Dictionary of Hindu Iconography** में टी.ए. गोपीनाथ राव के ग्रंथ **Elements of Hindu Iconography** के एक उद्धरण को लिख भेजा जिसमें कहा गया है कि सामान्यतः इन्द्राणी या शची का वाहन गज होता है किन्तु जब उसे अन्य सात या आठ मातृकाओं के साथ आँका जाता है तब उसका वाहन सिंह होता है। मुझे आश्चर्य है कि अब तक सप्तमातृकाओं के जितने भी उत्कीर्ण फलक मैने देखे हैं, उनमें एक में भी इन्द्राणी का वाहन सिंह नहीं दिखाया गया है। किसी शिल्प-ग्रंथ में भी ऐसा निर्देश नहीं मिलता है। इसके विपरीत **बृहत्संहिता** (५८.५६) में कहा गया है कि सभी मातृगण अपने-अपने देवानुरूप चिह्नों (लक्षणों) सहित बनायी जानी चाहिएं - स्वनामदेवानुरूपकृत चिह्नः। **रूपमण्डन** (५.३८) में भी 'मातरः स्वस्ववाहना', बनाने का ही निर्देश है। ऐन्द्री या इन्द्राणी को **अपराजित पृच्छा** (२२३.१७) में गजासना, **रूपमण्डन** (५.६६) में गजसंस्थिता तथा **देवतामूर्ति-प्रकरण** (८.७४) में गजासनगता बनाने का प्रावधान है।

यद्यपि रन्धावा-द्वय ने अपनी पुस्तक के चित्र वाली इन्द्राणी की एलोरा में स्थिति का उल्लेख नहीं किया है, तथापि वह वहाँ की जैन गुफाओं की अम्बिका-प्रतिमाओं में से एक है। एक प्रतिमा इन्द्र-सभा गुफा के बरामदे में है जिसे इन्द्र के सामने वाले छोर पर आँका गया है। इन्द्र-सभा की इन्द्र और अम्बिका प्रतिमाओं का विवरण एवं उनके चित्र (फलक ६-७) जेम्स बर्जेस ने १८८० ई. के आसपास अपनी पुस्तक **A**

Guide to Elura Cave Temples में प्रकाशित किये थे। गजवाहन के साथ उत्कीर्ण इन्द्र की पहचान निःसन्दिग्ध इसलिए भी थी क्योंकि जैन धर्म में उन्हें जिन-शिक्षाओं का अच्छा श्रोता माना गया है। उसी मण्डप के दूसरे छोर पर सम्मुखीय मुद्रा में आँकी गयी देवी-प्रतिमा को इन्द्र की शक्ति मान लिया गया और संभवतः इसीलिए इस गुहा-मण्डप को इन्द्र-सभा कहा गया। इन्द्र-सभा की इस अम्बिका प्रतिमा का चित्र प्रो. मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी ने भी अपनी पुस्तक **'जैन प्रतिमा विज्ञान'** (वाराणसी १९८१, चित्र सं. ५२) में प्रकाशित किया है। दूसरी अम्बिका की प्रतिमा इन्द्र-सभा मण्डप के ऊपरी तल में ठीक इन्द्र की प्रतिमा की सीध में है। इन दोनों प्रतिमाओं को लेखक ने ०४ जुलाई २०११ को स्वयं देखा है। जैन गुहा-संकुल में ही अम्बिका की वह प्रतिमा है जिसे रन्धावा-द्वय ने प्रकाशित किया है।

जेम्स बर्जेस ने अपनी रिपोर्ट **(Elura Cave Temples and the Brahmanical and Jaina Caves in Western India,** 1877-78, 1878-79, 1879-80, Edinburgh, 1882, पृ. ४५-४६) में **इन्द्र-सभा** की इस देवी को यक्षी या शासनदेवी माना था क्योंकि जैन धर्म में प्रत्येक तीर्थंकर के लिए शासनदेवी का उल्लेख है, इन्द्राणी या शची का कहीं नहीं, और बालक, आम्रलुम्बी तथा जिन-बिम्ब के कारण अम्बिका का स्वरूप पहचाना था। इन चिह्नों के साथ अम्बिका का उल्लेख **अपराजितपृच्छा** (२२१.३६), **देवतामूर्ति-प्रकरण** (८.६३), **रूपमण्डन** (६.१९), **निर्वाणकलिका** (१८.२२) तथा **मंत्राधिराजकल्प** (३.६४) में पाया जाता है।

अम्बिका के इस स्वरूप-निर्धारण की एक कहानी है। अपने पूर्व जन्म में अम्बिका सौराष्ट्र (गुजरात) के कोडिनार नामक गाँव के सोमभट्ट ब्राह्मण की पत्नी थी। एक बार पूर्वजों के निमित्त श्राद्ध के दिन आमंत्रित ब्राह्मणों के स्नान करके आने से पहले उसने कुछ जैन साधुओं को भोजन करा दिया। स्नान करके आये ब्राह्मणों ने सारा वृत्तान्त जानकर भोजन करने से मना कर दिया। इस बात से क्रोधित हुये उसके पति सोमभट्ट ने अपनी पत्नी को अपने दो बेटों सिद्ध और बुद्ध के साथ घर से निकाल दिया। दिन भर इधर-उधर भटकने के बाद अम्बिका अपने बच्चों के साथ सुस्ताने के लिए सूखे आम के वृक्ष के नीचे बैठ गयी। आश्चर्य है कि वह आम का वृक्ष तत्काल हरे-भरे पत्तों और पके पलों से लद गया और निकट ही शीतल जल वाला एक सरोवर प्रकट हो गया। इससे अम्बिका और उसके बेटों ने अपनी भूख-प्यास बुझायी। इसी बीच सोमभट्ट के दुर्व्यवहार से क्रोधित होकर देवों ने सोमभट्ट के घर को छोड़कर सारा नगर जलाकर भस्म कर दिया। इस दुर्घटना से सोमभट्ट का अपने

कुकृत्य की ओर ध्यान गया और वह अपनी पत्नी तथा बच्चों को खोजने निकल पड़ा। सोमभट्ट को अपनी ओर आता देखकर अम्बिका उससे दण्डित किये जाने के डर से सन्निकट एक कुएँ में कूदकर मर गयी। अगले जन्म में वह यक्षी हुयी और नेमिनाथ तीर्थंकर की शासन देवी या संरक्षिका बनी। उसका क्रोधित पति उसका वाहन सिंह बना, उसके बेटे अब शुभंकर और प्रभंकर हुए तथा शुष्क आम्रवृक्ष के अचानक फलित हो जाने वाली आम्रलुम्बी अम्बिका की पहचान बन गयी। जैसे पद्मावती के शीश के ऊपर पार्श्वनाथ तीर्थंकर का लघु जिन-बिम्ब बनाया जाता है, वैसे ही अम्बिका के फलक में ऊपर नेमिनाथ का जिन-बिम्ब बनाया जाता है। अस्तु, रन्धावा-द्वय की पुस्तक में छपे चित्र वाली प्रतिमा इन्द्राणी की नहीं, अम्बिका की है।

- १- बी, स्ट्रीट २४, सेक्टर ८, भिलाई- ४६०००६

[एलापुर, जो अब एलोरा के नाम से विख्यात है, महाराष्ट्र के औरंगाबाद जिले में स्थित है। चट्टान काट कर बनाये गये गुफा मंदिरों के लिए यह स्थान विख्यात है। ब्राह्मणीय और बौद्ध मंदिरों के अतिरिक्त जैन मंदिरों का भी यहां एक छोटा समूह है। क्रम संख्या ३० से ३४ तक जैन मंदिरों का समूह है। इन मंदिरों में क्रम सं. ३२ पर इन्द्र-सभा और क्रम सं. ३३ पर जगन्नाथ-सभा विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। इन सभी मंदिरों के निर्माण का समय आठवीं-नवीं शताब्दी ईस्वी माना जाता है।

इन्द्र-सभा के नाम से विख्यात गुफा मंदिर जैन मन्दिर समूह में सबसे प्राचीन है। यह दो मंजिला है। इसकी निचली मंजिल में एक आंगन है जो दो स्तम्भों से घेर कर बनाया गया है। ये स्तम्भ चट्टान में से काट कर बनाये गये हैं, और उन पर जो कटान (carving) की गई है वह शिल्प की दृष्टि से सुन्दर और विशिष्ट है। इन दोनों स्तम्भों का चित्र मुख पृष्ठ पर दिया गया है। यह चित्र भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित **Jaina Art and Architecture**, खण्ड-१ के फलक ११६ से साभार उद्धृत है।

इस गुफा मंदिर को **इन्द्र-सभा** का नाम दिया गया है क्योंकि इसके एक छोर पर इन्द्र की मूर्ति है। उसी के सम्मुख दूसरे छोर पर मूर्ति को प्रायः इन्द्राणी की मूर्ति सामान्यतः मान लिया जाता है जो सही नहीं है। वास्तव में यह मूर्ति अम्बिका की है। भारत की प्राचीन कला के मर्मज्ञ डॉ. ए.एल. श्रीवास्तव ने इस पर अपनी विवेचना दी है जिससे इस मूर्ति के सम्बन्ध में भ्रम का निवारण होता है। डॉ. श्रीवास्तव का विवेचन ऊपर प्रस्तुत है और उनके द्वारा उपलब्ध कराये गये अम्बिका के चित्र भी कवर पृष्ठ २ और ३ पर दिये गये हैं।

- डॉ. शशि कान्त]

प्रजातंत्र में सह-अस्तित्व की उपयोगिता

- श्री सचिन्द्र शास्त्री

भगवान महावीर ने जिस धर्म तीर्थ का प्रवर्तन किया है और उसके द्वारा जिस धर्म को लोगों के सामने रखा है, उसका स्वरूप सर्वोदय है। आचार्य समन्तभद्र ने जैनदर्शन को सर्वोदय-तीर्थ के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा है -

सर्वपदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव

अर्थात् हे प्रभो! समस्त आपदाओं का अंत करने वाला यह आपका ही सर्वोदय तीर्थ है, जिसका कोई अंत नहीं है। जैन दर्शन में मानव जनित समस्त समस्याओं का अंत करने की सामर्थ्य विद्यमान है, साथ ही इसमें सबका कल्याण करने का चिंतन निहित है। इस धर्म में न जाति की सीमा है, न क्षेत्र की और न काल की और न लिंग आदि की। यह तो प्रत्येक आत्मा को मूल में समान स्वभाव और समान धर्म वाला मानता है। यह जन्मना किसी जाति भेद या अधिकार भेद को नहीं मानता। यह अनन्त जड़ पदार्थों का भी स्वतंत्र अस्तित्व मानता है। इस धर्म-दर्शन ने वस्तु स्वातंत्र्य, सह-अस्तित्व आदि सिद्धान्तों को साधार स्वीकृति दी है। यह एक द्रव्य के परिणमन पर दूसरे द्रव्य का अधिकार नहीं मानता। किसी भी प्राणी के द्वारा दूसरे प्राणी का शोषण, निर्दलन या स्वायत्तीकरण अन्याय है।

किसी चेतन का अन्य जड़ पदार्थों तक को भी अपने अधीन करने की चेष्टा अथवा भावना भी अनधिकार चेष्टा है। इसी तरह किसी देश या राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र को अपने अधीन करना या उसे अपना उपनिवेश बनाना भी मूलतः अपराध है। जैनधर्म वर्ण, जाति, रंग आदि के आधार पर मानवजाति को नहीं बाँटता है। जैनधर्म में सम्पूर्ण मानव जाति एक है - **'मनुष्यजातिरेकैव'** वाक्य इसकी पुष्टि करता है। जैनधर्म में समस्त एकेद्रिय जीवों की एक जाति है। द्वीन्द्रिय जीवों की एक जाति है। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीवों की जाति है। इसी आधार पर मनुष्य मात्र का समावेश करने वाली मानव जाति स्वीकार की गई। भगवान महावीर ने धर्म का जो उपदेश दिया वह तत्कालीन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र सभी मनुष्यों के लिए था।

कहते हैं कि वह मात्र मानवजाति के लिए ही नहीं वरन् देवों एवं तिर्यंचों के लिए भी कल्याणकारी था। उन्होंने भी प्रभु के समवशरण में पावन वाणी का श्रवण किया।

तीर्थंकरों ने धर्म का उपदेश आत्मिक विकारों को दूर कर दुःखमुक्त होने के लिए दिया था। तीर्थंकरों ने प्राप्त राज्य सत्ता का त्यागकर आत्मविकास हेतु धर्म का मार्ग खोजा एवं प्राणीमात्र के हित के लिए धर्म का उपदेश दिया। अतः जैनधर्म की दृष्टि में समस्त मानव जाति एक है एवं दुःखमुक्त बनने के लिए कोई भी धर्म का आश्रय ग्रहण कर सकता है। धर्म सत्ता-संघर्ष का साधन नहीं हो सकता है, क्योंकि उनके (महावीर) द्वारा बताए गए धर्म में प्राणीमात्र के आनन्दात्मक स्वरूप को प्राप्त करने की साधना है।

उनकी धर्मसभा (समवशरण) में जन्मजात बैर रखने वाले प्राणी सौहार्द से अनुप्राणित हो जाते थे। यह आकस्मिक परिवर्तन केवल मनुष्यों की चेतना में ही नहीं होता था। पशु-पक्षी जगत् का ऋजु मानस भी उनसे प्रभावित होता था। साँप और नेवला, बिल्ली और चूहा नित्य बैरी कहलाते हैं। ये प्राणी सामाजिक न होते हुए भी आपसी बैर भाव को भुलाकर सह-अस्तित्व से ओत-प्रोत हो धर्म लाभ लेते थे। आपसी सामंजस्य के द्वारा विचार-भेद रहते हुए भी विचार-भेद से उत्पन्न होने वाले संघर्ष को मिटाया जा सकता है। परिवार में अनेक व्यक्ति हैं, उनके अनेक विचार हैं, किन्तु उनके रहते हुए भी विचारों का सह-अस्तित्व हो सकता है।

शांत सहवास (एक साथ रहना) जीवन की सबसे बड़ी सफलता है। सह-अस्तित्व के अभाव में शांत सहवास संभव नहीं है। प्रजातंत्र में पग-पग पर टकराव है। यह टकराव स्वार्थ के कारण, मान्यताओं के कारण एवं धारणाओं के कारण होता है। ऐसी स्थिति में सह-अस्तित्व और समन्वय की चेतना से ही टकराव को समाप्त किया जा सकता है। सह-अस्तित्व के सिद्धांत को समझ लेने पर जीवन में संघर्ष का स्थान नहीं रहता।

इसी बात पर बल देते हुए आचार्य उमास्वामी **मोक्षशास्त्र** के पाँचवें अध्याय में कहते हैं **'परस्परोग्रहो जीवानाम्'** अर्थात् परस्पर में एक-दूसरे का सहारा होना ही जीवन का नियम है। इसमें कोई विरोध नहीं है। विरोध इसलिए पनपता है कि हम सह-अस्तित्व के इस नियम को भुला देते हैं। यह नियम व्यक्ति के जीवन को शांति, सौहार्द एवं सबके प्रति मैत्री से भर देता है। जैन धर्म मानव जाति को तोड़ता नहीं, अपितु जोड़ता है।

सह-अस्तित्व का अभिप्राय है कि विरोधी विचार रखने वाले व्यक्ति या समाज को समाप्त करने का प्रयास न करना और इतना ही नहीं, अपितु उनकी उपस्थिति को स्वीकार करते हुए उसके अन्तःस्थ सत्य को जानना, क्योंकि वस्तु अनन्त धर्मात्मक

है और उसमें परस्पर विरोधी दिखने वाले धर्म साथ-साथ पाए जाते हैं। जिस प्रकार यह सिद्धांत वस्तु की अनेक धर्मात्मकता का सिद्धांत है, उसी प्रकार प्रजातंत्र शासन पद्धति में विरोधी दलों की उपस्थिति अनिवार्य है।

सत्तारूढ़ सरकार विपक्षी नेताओं के साथ बैठकर खुली चर्चा करती है। देश के सब दलों का उद्देश्य देश की जनता का हित सम्पादन हो, यह आवश्यक है। वर्तमान में इस नीति का औपचारिक निर्वाह तो हो रहा है, परन्तु सह-अस्तित्व का मूलभूत उद्देश्य कितना फलित हो रहा है, कहा नहीं जा सकता।

वर्तमान में यदि प्रजातंत्र को सम्पन्न एवं खुशहाल बनाना है तो सह-अस्तित्व के इस सिद्धांत को जीवन में अपनाना होगा। सह-अस्तित्व के विधेयात्मक पक्ष में जिस व्यक्ति की गहरी आस्था है, वह विरोधी दलों से संबंधित व्यक्तियों के साथ भी सौहार्द पूर्ण संबंधों का विकास कर सकता है। संसार के प्राणियों के प्रति किस प्रकार का व्यवहार किया जाए, इसका संकेत आचार्य अमितगति ने इस प्रकार किया है -

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव।।

अर्थात् सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव हो, गुणिजनों के साथ में आनन्द प्राप्त हो, दुःखी जीवों के प्रति करुणाभाव हो एवं विरोधीवृत्ति वालों के प्रति माध्यस्थ भाव हो। यह चिंतन प्रत्येक मानव का हो तो उसका चित्त सरलता से निर्मल रह सकता है तथा विश्व में शांति एवं सह-अस्तित्व का आनन्द लिया जा सकता है।

इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि जैन धर्म के सह-अस्तित्व के सिद्धांत को व्यक्ति यदि जीवन में स्वयं अपनाए तो व्यक्ति सुखी होगा, परिवार अपनाए तो परिवार सुखी होगा, समाज अपनाए तो समाज सुखी होगा और देश अपनाए तो देश सुखी और समृद्ध होगा। अतः प्रजातंत्र के कल्याण के लिए सह-अस्तित्व के सिद्धांत की उपयोगिता परम आवश्यक है।

संदर्भ

१. युक्त्यनुशासन ६१
२. आदिपुराण ३८.४५
३. मोक्षशास्त्र, पाँचवा अध्याय, सूत्र नं. २१
४. सामायिक पाठ १

- शोधार्थी, जैन अनुशीलन केन्द्र,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

मन और ध्यान

- डॉ. संजय कुमार जैन

मन एक बहुत बड़ी ऊर्जा का स्रोत है, किन्तु उस पर नियंत्रण न होने के कारण उस ऊर्जा का विभिन्न विचारों के रूप में बहिर्गमन होता रहता है एवम् दुरुपयोग भी होता रहता है। मन विद्युत के मेन स्विच की तरह है, इसे बंद कर दें तो इन्द्रिय-लम्पटता रूपी उपकरण स्वतः ही बन्द हो जाते हैं। संसार को जीतना आसान है, लेकिन अपने मन को जीतना ही सच्ची जीत है।

मन भोगों से कभी तृप्त नहीं होता। मन की इच्छायें अग्नि-कुण्ड के समान मनचाहा ईंधन डालने पर भी कभी बुझती नहीं, उसे तृप्त करना है तो उस पर त्याग का अंकुश लगाना पड़ेगा। मन आकांक्षाओं में जीता है और आकांक्षाएं अगणित होती हैं। यदि मन अनावश्यक छोड़ आवश्यकता में जीना प्रारम्भ कर दे तो आज ही तृप्त हो सकता है। मन को जीतना है, तो हमें आवश्यकता में जीना होगा क्योंकि आवश्यकता की पूर्ति सीमित होने के कारण मन को जीतने की साधना सम्भव है।

मन का ध्यान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी एक आलम्बन पर मन को केन्द्रित करना ध्यान है। **एकाग्रचिन्तानिरोधः** का अर्थ है एक ही अग्र अर्थात् मुख्य विषय में चिन्ता को रोक देना।

अन्य मतों में जो **ध्यानं निर्विषयं मन** मान्यता है, उसका निरसन करते हुए जैनमत की अवधारणा है कि ध्यान का एक विषय मन है और निचली अवस्था में एक विषयभूत मन की परिणति ध्यान है। किसी एक आलम्बन पर मन को केन्द्रित करना ध्यान है। मन के विकार से अशुभ ध्यान या अपध्यान होता है। मन की पवित्रता से प्रशस्त-ध्यान की सिद्धि होती है। मन की एकाग्रता का अभाव ध्यान में बाधाएं लाता है और पवित्र चिन्तन से चिन्ताओं व विकल्पों से मुक्ति मिलती है। जैन दर्शन में ध्यान का लक्षण है एकाग्र चिन्ता निरोध। किसी पदार्थ या विषय में स्थिर होना ध्यान है। अब वह ध्यान किस कोटि का है, यह मन की शुद्धि और विशुद्धि पर निर्भर करता है।

जैन दर्शन में मन एक अभ्यन्तर इन्द्रिय है। यह दो प्रकार की है - द्रव्य व भाव। हृदय स्थान में अष्टपांखुड़ी के कमल के आकार रूप पुद्गलों की रचना विशेष, द्रव्य मन है। चक्षु आदि को इन्द्रियवत् अपने विषय में निमित्त होने पर भी अप्रत्यक्ष द

अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण, इन्द्रिय न कह कर 'अनिन्द्रिय' या 'ईषत् इन्द्रिय' कहा जाता है। संकल्प-विकल्पात्मक परिणाम तथा विचार, चिन्तवन, आदि रूप ज्ञान की अवस्था विशेष, भाव मन है।

मन इन्द्रिय को सहायता करता है। उसी मन के द्वारा क्रमशः विशेष क्रिया होती है। जिसके द्वारा देखे सुने गये पदार्थों का स्मरण होकर हेय उपादेय का ज्ञान होता है वह मन है।

वैशेषिक मत का कहना है कि मन एक स्वतंत्र द्रव्य है। वह रूप आदि परिणमन से रहित है और अणु मात्र है।

बौद्ध मत का कहना है कि विज्ञान ही मन है और इसके अतिरिक्त कोई पौद्गलिक मन नहीं है।

शंकराचार्य के अनुसार कर्म से केवल मन की ही शुद्धि होती है। तत्त्व वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती। इसका मुख्य उपाय ध्यान है।

स्वामी शिवानंद के अनुसार ध्यान ही मोक्ष प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है।

चिन्तन की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। अपने ध्येय में लीन हो जाना अथवा स्वयं के चेतन स्वरूप में रम जाना, ध्यान है।

श्री श्री रविशंकर कहते हैं कि जब मन विश्राम करता है तब बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है। जब मन आकांक्ष ज्वर या इच्छा जैसी छोटी-छोटी चीजों से भरा हो, तब बुद्धि क्षीण हो जाती है। जब बुद्धि तथा ग्रहण क्षमता तीक्ष्ण नहीं होती तब जीवन को पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं मिलती है, नए विचार नहीं आते तथा हमारी सामर्थ्य दिन-प्रतिदिन कम होने लगती है। इस ज्ञान से हम अपने छोटे मन के दायरे से बाहर कदम निकाल सकते हैं और यह कदम जीवन की कई समस्याओं का समाधान देगा।

स्वामी चैतन्य कीर्ति कहते हैं कि जब बात मन या आत्मा के नवीनीकरण की हो, शुद्धता की हो, नए नजरिये की हो, नई आदतों की हो, तो ध्यान की महत्ता काफी अहम हो जाती है। ध्यान आपको निरंतर तरोताजा रखता है और नकारात्मक विचार नहीं आने देता। हमेशा नया बनाए रखता है। आपके मन-मस्तिष्क में नई ऊर्जा का संचार करता है। यही ऊर्जा जिंदगी को सकारात्मक बनाती है। जीवन में नई चीजों के उद्भव में सहायक बनती है।

अगर जीवन में परिवर्तन चाहिए तो ध्यान कीजिए। ध्यान से सम्बल आता है, चीजों को ज्यादा बेहतरीन ढंग से समझने की क्रिया का विकास होता है। दरअसल,

अतीत का बोझ हमारी जिंदगी को बासी बना देता है। जब तक बासीपन दूर नहीं होगा, जीवन में नवीनता की उम्मीद करना बेमानी होगा।

आधुनिक विज्ञान मन के अस्तित्व को नहीं मानता बल्कि उसके स्थान पर स्मृति, विचार, साहचर्य आदि के साथ मानसिक वृत्तियों को भी स्वीकार करता है। परन्तु भारतीय मनोविज्ञान में विशेष अध्ययन का विषय यह रहा है कि मन की शक्ति को कैसे बढ़ाया जाए, शारीरिक कार्यों, भावों और आवेगों को कैसे संयमित किया जावे। मन तत्व का मनन करता है और चित्त या बुद्धि उसे ग्रहण करता है।

मन को जीतने का मंत्र है अध्यात्म। अध्यात्म से मन का सौन्दर्य खिलता है। अध्यात्म की शिक्षा, अध्यात्म की चर्चा, मन को ऊर्ध्वगामी बनाती है जबकि भौतिकता से मन अधोगामी बनता है। अध्यात्म ही जीवन का परम सत्य है, जीवन की तर्ज है एवं वही देवत्व/अमृत्व की ओर ले जाता है। जिस मनुष्य के जीवन से अध्यात्म और धर्म दूर हो गया वह पीड़ित है, चिंतित है। जो अध्यात्म और आत्मा के पथ पर चलते हैं वे ही मन के मालिक बनते हैं, मन को जीत पाते हैं, समझो कि वे मृत्यु को भी जीत लेते हैं। मन को परमात्मा के चरणों में मिटाकर जिया जा सकता है। मन को मिटाने का अर्थ अपने अहंकार और क्रोधादि दुर्गुणों को मिटा देना है।

यदि हम अपनी जीवन-चर्या पर आध्यात्मिक दृष्टिकोण से तथा सूक्ष्मता से दृष्टिपात करें तो हम पायेंगे कि हमारी अन्तश्चेतना बहुत ही क्षुद्र कोटि की वस्तुओं व व्यवस्थाओं में उलझी हुई है। हम येन-केन प्रकारेण अधिक से अधिक धन के लिए, अधिक से अधिक वस्तुओं के लिए, अधिक से अधिक व्यवस्थायों के लिए, अधिक जानकारियों के लिए और अधिक से अधिक मान-सम्मान के मालिक होने के लिए प्रयासरत हैं। धन, व्यक्ति, वस्तु, विचार आदि के परिग्रह की हमारी कोई सीमा नहीं है। हमारी मांग अधिक से अधिक की है। इतना ही नहीं, हमने अपने मन को बहुत सारी अनावश्यक सूचनाओं से, अर्थहीन हो चुकी भूतकाल की स्मृतियों से तथा भविष्य की असम्बद्ध कल्पनाओं से भी भरा हुआ है। शरीर व मन स्तर पर हुए इस जटिल परिग्रह की आपा-धापी में स्वविषयक प्रश्न 'मैं कौन हूं' तथा अपने जन्म विषयक 'क्यों? कैसे? कहां से?' आदि प्रश्न हमारे मन में उठते ही नहीं है और यदि उठते भी हैं और उनमें कोई गम्भीरता भी हो तो भी इस तरह की आकाक्षंओं से भरे मन के द्वारा इन प्रश्नों के उत्तरों को नहीं जाना जा सकता। इस प्रकार शरीर व मन के स्तर पर आघटित हुई यह परिग्रह की अवस्था स्वबोध और जन्म विषयक कथन्ता के

बोध में बहुत बड़ी बाधा है। जब साधक भली-भाँति विचार करके शरीर व मन के स्तर पर पैदा हुई परिग्रह की मृग मरीचिका से अपने आप को मुक्त कर लेता है तो प्रायः स्वतः ही उसे जन्म विषयक कथन्ता का बोध होने लगता है।

मानव जीवन हमारे लिए सबसे बड़ी सौगात है। मनुष्य का जन्म ध्यान, तप, साधना, करके भगवान सम बनने के लिए हुआ है। यह जीवन ज्योतिर्मय बेहद कीमती है। जीवन को छोटे-छोटे उद्देश्यों के लिए जीना जीवन का अपमान है। अपनी मन व ध्यान की समस्त शक्तियों को तुच्छ कार्मों में व्यर्थ करना, व्यसनों एवं वासनाओं में जीवन का बहुमूल्य समय बर्बाद करना, जीवन का तिरस्कार है। जीवन अनंत है, हमारी शक्तियां भी अनंत हैं और हमारी प्रतिभाएं भी विराट हैं, लेकिन हम अपनी शारीरिक, मानसिक, सामाजिक व आध्यात्मिक शाक्तियों का लगभग ५ प्रतिशत ही उपयोग कर पाते हैं। हमारी अधिकांश शक्तियां सुप्त ही रह जाती हैं। यदि हम अपनी आंतरिक क्षमताओं से मन, ध्यान, साधना, योग और तप का पूरा उपयोग करें तो हम पुरुष से महापुरुष व युगपुरुष, मानव से महामानव बन सकते हैं। हमारी मानवीय चेतना से वैश्विक चेतना अवतरित हो सकती है। भगवान सम आलौकिक शक्तियां व सिद्धियां हमारी आत्मा के भीतर सन्निहित हैं। विचार करें कि इस पृथ्वी पर मेरा जन्म आत्म कल्याण कर भगवान सम बनने के लिए हुआ है।

- वार्ड नं. १५, पथरिया (जिला दमोह)

(डी. लिट्. की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध 'मन प्रबन्ध और ध्यान - विभिन्न दर्शनों व विज्ञान के आलोक में एक समीक्षात्मक अध्ययन' की रूपरेखा से सन्दर्भित।)

एकान्तवाद एवं स्वच्छंदता अनुचित

- श्री ललित कुमार नाहटा

समस्यायें अनेकों हैं व समाधान भी हैं, आवश्यकता है निष्ठापूर्वक कार्यान्वित करने की।

हम वीतराग के पथिक अपने आपको कहते अवश्य हैं लेकिन आचरण में वीतराग भाव ला पाते हैं ऐसा परिलक्षित नहीं हो रहा है। लग यही रहा है कि हम जैन आपस में राग-द्वेष से भरे हैं और यही कारण है कि जैन धर्म की प्रतिष्ठा दिन-प्रतिदिन कम होती जा रही है। किसी की प्रतिष्ठा को बढ़ाने या घटाने में बाहरी व्यक्तियों का हाथ नहीं होता है, स्वयं का या अपनों का ही योगदान होता है।

वीतराग के अनुयायी, अनेकान्त को मानने वाले अनेकों शाखाओं में बंट गये। अनेकों शाखाओं में बंटे होना नुकसानदायक नहीं है, नुकसानदायक है अन्य शाखाओं से द्वेष। मैं सही, मेरा मार्ग सही, मेरा मार्ग मोक्ष में ले जाने वाला व दूसरा एकदम गलत, उसका मार्ग गलत व उसका मार्ग नरक में ले जाने वाला। जब हम सारी शक्ति व समय का अपव्यय एकान्तवाद का पालन करने में कर देते है अर्थात् स्वयं को सही व दूसरे को गलत प्रमाणित करने में लगा देते हैं तो सही मार्ग पर चलने के लिए शक्ति व समय बच ही कहाँ पाता है ?

छोटी-छोटी भिन्नता के बिन्दुओं पर हम उलझकर कर रह जाते हैं व हमारी समानताओं के बिन्दुओं से अधिक महत्व हम महत्वहीन भिन्नता के बिन्दुओं को दे देते हैं। वस्त्र पहने या न पहने, मुँहपति हाथ में रखें या मुँह पर रखें, महावीर चतुर्दशी की रात में निर्वाण को प्राप्त हुए या अमावस्या की रात में, तीर्थंकर शादीशुदा थे या नहीं, महावीर की पुत्री थी या नहीं थी, महावीर क्षत्रियकुण्ड में जन्मे या वैशाली में, आदि-आदि। ऐसे बिन्दुओं पर हम उलझ जाते हैं जबकि इससे महावीर के संदेश का कोई लेना-देना नहीं है।

सस्थाओं व तीर्थों का संचालन कोई भी करे आम श्रावकों को इससे कोई फर्क नहीं पड़ता लेकिन उनके प्रबन्धन के लिए हो रहे झगड़ों से वातावरण अवश्य दूषित हो जाता है। झगड़ा करने वालों का उद्देश्य धर्म की सेवा करना कम होता है, वरन् पद, प्रतिष्ठा व अहम्-पोषण का अधिक। मार्गदर्शक भी चाहे-अनचाहे इन उलझनों

से अपने आपको अलग नहीं कर पाते। अतएव आवश्यक है कि वीतराग व अनेकान्त का पाठ सर्वप्रथम उन्हें अवश्य पढ़ाया जाय, समझाया जाय, आचरण में लाने को कहा जाय जो संघ व समाज का मार्गदर्शन व नेतृत्व प्रदान करने की भावना व क्षमता रखते हैं।

एक और समस्या बड़ी तीव्र गति से बढ़ रही है। वह है निरंकुशता व स्वच्छंदता की। किसी पर किसी का अंकुश नहीं। परमात्मा महावीर द्वारा कायम तीर्थ जिसे उन्होंने **णमोतित्थस्स** कह कर स्वयं नमन किया, के चारों चक्के (पहिये) श्रमण, श्रमणी, श्रावक व श्राविका अलग-अलग दिशा में चलने का प्रयास कर रहे हैं। कोई किसी के कहे में नहीं लगता। सारे पंथ, गच्छ, समुदाय व संघाड़े अपनी-अपनी चला रहे हैं व उनमें भी कोई किसी के कहे में नहीं है। गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्तानुसार एक का दूसरे पर अंकुश रहना आवश्यक है परन्तु स्वच्छंदता सारी व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर रही है। आवश्यकता है कि पूरे जैन धर्म के शीर्ष पर बैठे चारों पहिये योजनाबद्ध तरीके से एक दिशा तय करें व उस पर आचरण करें। ऐसा होने पर कई समस्याएँ स्वतः ही समस्या नहीं रहेंगी।

- सम्पादक, स्थूलिभद्र सन्देश, नई दिल्ली

बिखरते सपने

- श्रीमती शेफाली मित्तल

आज भी बहुत से घरों में देखा जाता है कि लड़की के पैदा होते ही उसके माता-पिता उसके विवाह की चिंता से ग्रसित हो जाते हैं। यद्यपि आज के बदलते हुए समय के अनुरूप वे उन्हें उच्च शिक्षा दिलाते हैं, किन्तु बचपन से ही अच्छे संस्कारों के साथ ही यह शिक्षा भी देते हैं कि उसे पराये घर जाना है। नैना भी ऐसे ही माहौल में पली-बढ़ी थी। बड़े होकर उसने एक ही सपना देखा था कि उसे खूब प्यार करने वाली ससुराल मिले।

नैना को एम.बी.ए. करने के पश्चात् एक कम्पनी से अच्छी नौकरी का ऑफर आया था किन्तु नौकरी शुरू करने से पूर्व ही माता-पिता ने नीलेश के साथ उसका विवाह कर दिया। नीलेश इंजीनियर था। उसकी तनख्वाह अच्छी-खासी थी। वह भोपाल में अपने माता-पिता एवं छोटे भाई के साथ रहता था। नैना के ससुर सेवानिवृत्त थे, अतः दिन-भर घर पर ही रहते थे। नैना अपने परिवार के सभी सदस्यों का अत्यधिक ख्याल रखती थी। उसके सास-ससुर पुराने विचारों एवं रीति-रिवाजों को मानते थे। उनके विचार से लड़के की शादी करके उन्होंने बहू के रूप में दुधारू गाय पाल ली थी जिसे जब भी चाहें, वे दुह सकते थे।

नैना की शादी के कुछ ही दिनों बाद "करवा चौथ" का त्यौहार आया। नैना के माता-पिता मध्यम वर्गीय थे। ज्यादा दिखावा न उन्हें आता था और ना ही वे करते थे। इस अवसर पर वे बड़े शौक से नैना की मनपसंद मिठाई का एक डिब्बा लेकर नैना की ससुराल चले गये। नैना तो बहुत खुश हुई किन्तु उसके सास-ससुर को बिल्कुल पसंद नहीं आया। उनका तो मिजाज ही बिगड़ गया। वे उसके माता-पिता के जाने के बाद उस पर लगभग बरस पड़े। खूब उल्टा-सीधा कह सुनाया उसे। उनका आक्रोश नैना बर्दाश्त न कर सकी और फूट-फूट कर रोने लगी। नीलेश भी अपने माता-पिता की हां में हां मिलाता था। अतः उससे भी कुछ कहने की हिम्मत नही थीं उसमें। इतनी पढ़ी लिखी होने के वाबजूद नीलेश उसे बात-बात पर टोका करता था। "ठीक से बैठो, ठीक से चलो।" यहां तक कि उसके कपड़े पहनने पर भी रोक-टोक होती थी। "कैसे कपड़े पहनती हो, ऐसे तो हमारे यहां काम वाली

बाइयां पहना करती हैं।" उसके बीस जोड़ी कपड़ों में से सिर्फ दो साड़ी पहनने लायक बताकर अन्य सारे कपड़े बक्से में बंद करवा दिए गए थे।

नैना अपने माता-पिता को जब भी अपने ससुराल वालों की हरकतें बताती तो वे उसे यह कह कर समझाते कि "धीरे-धीरे सब तुझको समझने लगेंगे, तू तो हीरा है। हीरे की कद्र जल्दी से किसी की समझ में नहीं आती।" ससुराल वालों के व्यवहार को देखकर नैना को अपने सपने बिखरते हुए नजर आने लगे थे। शादी होते ही लड़की नए-नए सपने संजोने लगती है। वह ससुराल में सबसे निकट अपने पति को ही पाती है और उसी से हर दर्द व खुशी बांटना चाहती है। पति यदि उसे समझे तो वह सारे दुख-दर्द झेल लेती है अन्यथा उसका वहाँ रह पाना मुश्किल हो जाता है। मायके रूपी एक संसार को छोड़ कर वह ससुराल रूपी दूसरे संसार में प्रवेश करती है। उस संसार का रूप इतना वीभत्स होगा, इसकी नैना को कल्पना भी न थी।

नैना को नाचने एवं गाने का बहुत शौक था। उसने संगीत में 'विशारद' किया था। अक्सर वह सितार के साथ गाने का अभ्यास किया करती थी। उसे गाते हुए देखकर तो जैसे उसकी सास के तन-बदन में आग लग जाती और वह उसे किसी-न-किसी काम के बहाने उठा देती। नैना अपना मन मसोस कर रह जाती। पतिदेव का भी यही कहना था कि "गाना-बजाना तो भांड किया करते हैं। अच्छे घरों की बहू-बेटियों को यह सब शोभा नहीं देता।" नैना हर समय की कहा-सुनी से तंग आ चुकी थी। कभी उसका मायके जाने का मन करता तो नीलेश कहता - "ठीक है, चली जाओ पर वापस मत आना।" नैना का दुख-दर्द बांटने वाला कोई भी न था। उसे घुटन होने लगी थी। वह चाह कर भी कुछ नहीं कर सकती थी। समाज में आयोजित उत्सवों में सास-ससुर न तो स्वयं उसे साथ ले जाते थे और ना ही नीलेश के साथ उसे कहीं आने-जाने देते थे। उसकी हालत पिंजड़े में बंद पंछी की भांति हो गई थी जिसकी उड़ानें उसका मालिक निश्चित करता है। उसकी बुद्धि कुंद होने लगी थी। उसके प्रत्येक काम में गलती निकाली जाती। अब उसे भी लगने लगा था कि शायद वही सब कुछ गलत करती है। गालियां सुनने की भी उसे आदत-सी हो गई थी।

विवाह के दो वर्ष बाद ही नैना की दशा बिल्कुल काम वाली बाइयों जैसी हो गई थी। मुस्कान तो उसके चेहरे से कोसों दूर पहुंच गई थी। बुझा हुआ, सूखा-सूखा चेहरा

रहने लगा था। जब नारी के सपने टूट जाते हैं तो उसकी जीने की इच्छा भी समाप्त हो जाती है। वह यंत्रवत रह जाती है। काफी दिनों बाद उसके माता-पिता उससे मिलने आए हुए थे। वह उनके लिए चाय-नाश्ता बना रही थी कि एक कप-प्लेट उसके हाथ से छूट गया। इस पर उसके ससुर बड़ी बुरी तरह से उस पर दहाड़े, "क्यों नहीं कोई भी काम ठीक से करती है।" पीछे से नीलेश की भी आवाज आई, "बिल्कुल लच्छन नहीं है, मेरे ही पल्ले पड़नी थी ये"। यह सब सुनकर नैना के माता-पिता स्तब्ध रह गए। उनसे बेटी का इस कदर अपमान बर्दाश्त न हुआ। नैना की शक्ल तो उनसे पहले ही नहीं देखी जा रही थी। अब उन से वहां और न बैठा गया। वे शीघ्र ही उठकर चल दिए। घर पहुंच कर उन्होंने निश्चय किया कि अब वे नैना को वहां एक पल के लिए भी नहीं रहने देंगे और वापस अपने घर ले आएंगे। नैना को वहां से ला पाना इतना आसान नहीं था। दो दिन बाद, हिम्मत करके नैना के पिता ने उसके ससुर को फोन पर सूचित किया कि "हम सब माता के दर्शन के लिए वैष्णोदेवी जा रहे हैं। नैना को भी भेज दें तो अति कृपा होगी।" वैष्णोदेवी की यात्रा की बात सुनकर नैना के ससुर मना न कर सके और उन्होंने इजाजत दे दी। साथ ही, वापसी में स्वयं पहुंचाना, यह भी कह दिया। अगले दिन नैना के माता-पिता उसे उसकी ससुराल से ले आए। रास्ते भर नैना अपनी मां से लिपट कर रोती रही।

अक्सर ऐसा देखा गया है कि यदि नारी दबाव में आ जाए तो सब लोग उस पर हावी हो जाते हैं। नारी चाहे कितनी भी पढ़ी-लिखी क्यों न हो, उसे बेवकूफ सिद्ध करने में उन्हें जरा-भी देर नहीं लगती। नैना के माता-पिता उसके सास-ससुर की मानसिकता को आज ठीक से समझ पाए थे। नीलेश भी इतनी निम्न प्रकृति का होगा, इसकी भी उन्हें आज ही पुष्टि हो पाई थी। नैना की हालत को देखकर आज उसके माता-पिता को महसूस हो रहा था - काश, उन्होंने अपनी फूल-सी बच्ची के लिए सही दिशा में सोचा होता। लाख कोशिशों के बाद भी वे उसके खोए हुए आत्म-विश्वास को वापस नहीं ला पाए थे। उनके आंगन का फूल बिल्कुल मुरझा चुका था।

- मकान नं. ५०२, सेक्टर ८, पंचकूला-१३४१०६

Interpreting the Ancient Epigraphs of India

- Dr. Shashi Kant

Story of decipherment

The discovery, decipherment and interpretation of the ancient epigraphs present a fascinating story. It all started with the curiosity and zeal of some officers in the army of the English East India Company in the 18th century. The tragedy was that the Indians themselves had forgotten about the treasures of their past history. When the inscriptions of Aśoka were discovered the Indian scholarship was not able even to read them. When the Aśokan pillars were transported by Firuz Shah Tughluk in the 14th century from Meerut and Topra to Delhi, the pundits told him that they were the walking-sticks of Pāṇḍava Bhīma and some eulogy was written for the Sultan on it. The beginnings of oriental studies were made by the officials of the English East India Company in their own interest so that they could understand the psychology of the people whom they were to subjugate and rule.

With this purpose the Asiatic Society of Bengal was founded on 15 January 1784 and an Oriental Library was also started in 1814. The primary object of this venture was to study the literature of the Indians, both Hindus and Muslims. After the Third Maratha War in 1818 the English were in full control of the situation and thought themselves to be the rulers of India in effect. Thereafter their officers and men in the Khaki started exploring India to get acquainted with the ground situation. In the process some of them discovered the lost treasures of Indian history. A journal under the name of the *Asiatic Researches* also started appearing in which these explorations were noticed. The decipherment of the inscriptions was also attempted.

One of the exploratory discoveries was the Hāthīgumphā Inscription of Khāravela in A.D. 1825 by Sterling who gave an account of it in the *Asiatic Researches*, XV. In 1837 James Prinsep attempted reading of the inscriptions of Devānāṁpiya Piyadasi Asoka. The systematic work began after the Archaeological Survey

of India was created and General Alexander Cunningham was appointed its Director General in 1861. A journal under the name of *Indian Antiquary* was also started in 1872 and it continued to be published till 1933. Cunningham started the publication of the Archaeological Survey Reports from 1862.

The ancient scripts of India, namely, the Brāhmī with its development to the Nāgarī stage, the Kharoshṭhi and other scripts, were deciphered and by 1895 this task was accomplished through the efforts of James Prinsep, George Bühler, Sten Konow, J. F. Fleet, V. A. Smith, H. Lüders and A Führer, in the main. Führer published *The Monumental Antiquities and Inscriptions in the North-Western Provinces and Oudh* in 1892. Bühler brought out his monograph *On the Origin of the Indian Brāhmī Alphabet* in 1895. The Asokan inscriptions were edited by Cunningham in the *Corpus Inscriptionum Indicarum,* volume I; the Kharoshṭhi inscriptions were edited by Sten Konow in the *C.I.I.,* Volume II; and the Gupta Inscriptions were edited by J.F. Fleet in the *C.I.I.,* Volume III. All these three Corpus were published between 1877 and 1888. The major break through in the decipherment of ancient epigraphs was thus made in the last quarter of the 19th century through the efforts of some European scholars who were pursuing it as a hobby rather than as a vocation.

The scholars both foreign and Indian developed their studies on the basis of the foundations thus laid by the above savants who had their limitations because it was the beginning stage of the oriental studies and naturally the information about the various systems of thought and traditions of India was not much. They had zeal but they were not trained archaeologists and, therefore, the excavations conducted at the Kaṅkālī Ṭīlā in Mathura were not scientifically recorded.

During the 20th century vast material came to light as stray finds, chance discoveries and results of scientifically conducted excavations at certain sites. Now, mostly Indian scholars worked in this field. But it has been a sorry state of affairs that most of these scholars did not care or dare to review the assumptions and hypotheses put forth by the earlier savants. In the process of scientific inquiry and research to get at the root of the matter, we

have to be a bit of an iconoclast. Revising earlier views on the basis of further thought and better information does not mean any disrespect to the fore-runners, rather they would be happy in their graves or in heaven to see that their spirit of inquiry is being nourished and further. It is, however, a matter of regret that the young people prefer to take the easier course of repeating what is already handed down instead of taking pains to sieve the data through and funnel it to let out coherent and cogent interpretation. For this, our old-timers are more to blame because they are so much obsessed with the past that they neither themselves take a step forward nor allow their students to dismantle and reconstruct. On the point of a personal reference, I refer to my book *The Hāthīgumphā Inscription of Khāravela and the Bhabrū Edict of Aśoka* which was published in 1971 and its revised and enlarged edition was published in 2000. Although the book has been extensively reviewed in research journals in India and abroad, and also finds place in the postgraduate studies of some universities, it is a matter of high regret that our learned scholars of the late 20th century till today have thought it prudent to ignore the objective data but prefer to repeat the earlier incoherent interpretations.

Key-words

We have to search for key-words for correctly interpreting the fragmentary epigraphs relating to the period around the beginning of the Christian era. Many of these inscriptions were stray finds, some were found from the unscientific excavations conducted in the late 19th century at Mathura, and some others were found in the Khandgiri-Udayagiri caves in Odisha, in the caves in Nasik-Pune region in Maharashtra, at Pabhosa in Uttar Pradesh, and near Gaya in Bihar. There have been errors in interpreting these inscriptions because of the ignorance of the early savants about the religious literary traditions of ancient India, and the scholars who worked on these inscriptions later on, did not care to verify the facts but took the easy road of simply following the earlier scholars. This short-cut style and copying spirit of the modern learned scholarship is rather disconsolating.

Before we take up the interpretation of some of the impugned epigraphs, we would discuss the import of some of the key-words, as follows. (In transcribing into Roman script, च is denoted by *cha*, छ by *chha*, ष by *sha*, and क्ष by *ksha*, hereunder.)

Arahaṁta

Arahaṁta or *Arahanta* is a Prakrit word and is found commonly used in ancient epigraphs relating to Jainism and Buddhism. Its Sanskrit synonym is *Arhat*, and it means *Pūjya*, *i.e.*, 'worshipful, deserving of reverence and worship', and it may be rendered in English as "reverend", "revered" or "venerable". It appears to have been a general appellation for the ascetics of the non-Brahmanical orders in the time of Mahāvīra and the Buddha in the 6th century B.C. and thence for about a thousand years, much in the same way as *Santa* was used for the panthic sadhus or ascetics in the mediaeval times.

References are mostly found in the Jain and Buddhist literature. Among the Buddhists, this term was used for the Buddha himself, as also for the Buddhist monks (*Bhikshus*) in general.

Among the Jains, it was not used for the ascetics in general but its use was specific for the Emancipated Ones (*Jīvana-mukta Ātmā*) who had attained omniscience (*Kevala-jñāna*). It thus included all the Kevali-jinas including the Tīrthaṁkaras. But more specifically it refers to the Tīrthaṁkaras or the Ford-finders who showed the path to emancipation from the cycle of births and deaths, the *Saṁsāra*, to the living beings, and who were themselves the Omniscient and the Emancipated Ones, and, therefore, the Hymn of Obeisance begins with *Namo Arahantānaṁ* (or *Ṇamo Arahantāṇam), i.e.,* 'Salutation to the Arahantas'.

A reference to *Kaśśapīyānaṁ Arahaṁtānaṁ* in the Pabhosa Cave Inscription posed a problem. It was interpreted as referring to Jainism. A look at the religious scenario in the time of the Buddha and Mahāvīra, however, suggests that this term should refer to the ascetics who were followers of Pūrana Kassapa. We learn from the Buddhist literature that in the 6th century B.C. 63 persons professed themselves to be the Tīrthaka or Tīrthaṁkara. Seven of them are mentioned by name as Tathāgata Śākyamuni Buddha,

Niganṭha Nātaputta, Makkhali Ghosāla, Ajita Kesakambalina, Sañjaya Belaṭṭhiputta, Pakuddha Kachchāyana and Pūrana Kassapa. The followers of the Buddha, known as the Buddhists, and the followers of Niganṭha Nātaputta (Mahāvīra), known as the Jains, have come down to this day. The followers of Ghosāla were known as the Ājīvakas and they find a mention in the inscriptions of Aśoka and his grandson Daśaratha, near Gaya, which means that the ascetics of this sect were in existence till the close of the 2nd century B.C. Kaśśapīya Arahaṁta are mentioned in the inscription of Āshāḍhasena of about the 2nd century B.C., found at Pabhosa, which indicates that the ascetic followers of Pūrana Kassapa existed about that time. No epigraphic reference about other sects or their ascetics is known.

Bhadaṁta

Bhadaṁta or *Bhadanta* is the usual reverential address for the Buddhist monks even today. It is equivalent to 'reverend' or 'venerable'. From the inscriptions of Daśaratha it is known that it was also used for the Ājīvaka ascetics. Although the term finds mention in the Jain literature also, the Jain monks are not addressed as *Bhadanta.*

In the inscriptions the term used for the Jain monks is *Ayya* or *Ārya,* which means 'meritorious and those venerated by the meritorious', and may be equivalent to *Āchārya* or it may simply be rendered as 'reverend' or 'venerable'.

In some early inscriptions the adjective *Vāchaka* has been added to the name of Jain ascetics. The term *Vāchaka* is used for such Jain ascetic teachers who know the canonical knowledge and who can discourse on it. It is usually found used in the Śvetāmbara literature and its equivalent in the Digambara tradition is *Upādhyāya (Uvajhāya).*

Aṁtevāsi and ***Sthavira***

These terms are not used in relation to the Jain monastic order usually. *Sthavira* or *Thera* is particularly used for Buddhist monks and specifically it refers to such monks who are to put up residence at a single place. *Sthavira* is used for Āchārya or Great Teacher in the Buddhist literature. The *Theragāthā* and the *Therigāthā* are parts of the Buddhist canonical literature and are contained in the

Khuddaka Nikāya of the *Suttapiṭaka.* The term *Sthavira* seems to refer to such senior monks who were stricken in age and, therefore, did not move about but resided at a fixed place, and needed somebody to look after them or take care of them.

Although the list of teachers is called *Therāvali* or *Sthavirāvali,* in the Śvetāmbara tradition, it does not refer to monks in general but it refers to only Great Teachers who handed down the Śruta or Canonical knowledge.

Aṁtevāsi is a disciple who lives with the teacher to take care of him. This system of keeping *Aṁtevâsi (Antevāsī)* was more in vogue among the Brahmins in their Gurukula system but it was also adopted by the Buddhists and the old monks seem to have kept disciples to look after them. This system of keeping *Aṁtevāsi* or *Aṁtevāsini* by the *Sthavira* is not known to have been in use in the Jain monastic order.

Brāhmaṇa and ***Śramaṇa***

These terms are often used in the inscriptions of Aśoka. *Śramaṇa (Samaṇa)* obviously refers to the ascetics of various sects who were followers of the Tīrthakas mentioned in the Buddhist literature. They were homeless wanderers, practising asceticism in their own way, and preaching morality and good conduct to the people, as they understood it from their respective teachers. This term later became synonymous only for the Jain and Buddhist monks.

The term *Brāhmaṇa* should not be taken to mean Brahmins as a class or caste but in the context it simply means the priestly class of Brahmins who were engaged in ritual performances or ablutionary duties for the Yajamāna, or were engaged in studying and teaching the Vedic system.

Āyāgapaṭa

It is the Prakrit form of *Āryak-paṭṭa,* that is, a tablet of homage, or a stone slab with certain auspicious symbols and sometimes even an image carved on it, for purposes of worship. This was in vogue among the Jains and the Buddhists prior to the emergence of image worship or the installation of idols of the Tīrthaṁkaras and the Buddha. Although in the inscriptions the term used is *Āyāgapaṭa,* it should be correctly read as *Āyāgapaṭṭa* because *paṭṭa*

means that slab on which something is scribed whereas *paṭa* means cloth or curtain or door panel, usually.

Siddhaṁ

Some of the inscriptions begin with *Siddhaṁ* or *Sidhaṁ*, which simply means "Success", or, "There be success". Sometimes the beginning is *Namo Siddhaṁ* and it would also mean "Hail success".

When the full form *Namo Siddhānaṁ* is there, it would refer to the second part of the Jain Hymn of Obeisance. The two parts of the Hymn would be *Namo Arahantānaṁ, Namo Siddhānaṁ,* or *Namo Sava Sidhānaṁ*, meaning Obeisance to the Emancipated Ones (Tīrthaṁkaras), Obeisance to the Perfect Ones.

Naṁdi

Naṁdi (Nandi) is related to the Śaiva iconography. *Nandi* (or the bull, not the castrated bullock) is the *Vāhana* (vehicle), as well as a *Gaṇa* (attendant), of Śiva. Setting up of a *Naṁdi* image would indicate that it ought to be related to Śaivism.

Leṇa, Guphā and *Gumphā*

These terms refer to cave dwellings excavated for the use of the ascetics. *Gumphā* or *Guphā* (or *kubhā)* refers to large cave. *Leṇa*, as used in the Khandgiri-Udaygiri cave inscriptions, also refers to large caves where the ascetics could stay.

Leṇa in the Pabhosa Cave Inscription and in the Pāle Cave Inscription has a restricted meaning referring to a cell, excavated inside a bigger cave. The dimensions of these cells are such in which a person cannot lie straight or stand erect or even sit upright. The dimensions indicate that these cells were excavated for ascetics for performing meditation or penance when they wanted to be let alone, all by themselves and unto themselves. This could have been some mode of meditation or penance with the followers of Pūrana Kassapa, as also with some sects of Buddhism.

Poḍhi

It means a cistern or a water-bowl carved out in the wall of the cell for storing water for the use of the ascetic using the cell for meditation or penance. Among the Jain ascetics of either the Digambara or the Śvetāmbara denomination the use of such water

storage is not known to have been in use. The Jain monks usually carry a wooden *kamaṁḍalu* for storing water.

Pasādo

The word *pasādo* has been found used in some inscriptions from Mathura. It is equivalent to Sanskrit *prasādaḥ,* meaning grace, benediction or blessing. In the context it should not be equated with *prāsādam*, to mean temple or some building for worship purposes. The word used to denote temple in the Mathura Inscription of those times is Arhatāyatana.

Illustrative Inscriptions

In the light of the above discussion about some of the important terms used in the Prakrit inscriptions of the period from 3rd century B.C. to 4th century A.D., we would note below eight inscriptions which would illustrate the important key-words to bear upon the meaning and content. In interpreting these inscriptions we cannot go by strict grammatical rules, and the interpretation of the text has to be attempted with reference to the context without insisting upon correct grammatical construction. The inscriptions are noted in more or less a chronological order.

1. The Pabhosa Cave Inscriptions

The cave is on the top of the Pabhosa Hill, some 4 km. north-west of Kosam in the Kaushambi district of Uttar Pradesh. It has been cut in the face of the hill and is rather inaccessible. It is 9 feet deep, 7 feet 4 inch wide and 3 feet 3 inch high, with a door 2 feet 2 inch wide and 1 feet 9 inch high, and two windows 1 feet 7 inch wide and 1 feet 5 inch high, each. Of the two inscriptions, one is in 8 lines incised above the left top corner of the entrance door and the other in 3 lines on the west wall opposite entrance.

These inscriptions were edited by A. Führer in the *Epigraphia Indica*, II, pp. 240-43.

The text of the inscriptions is as follows :

1. Rājño Gopālīputrasa
   Bahasatimittrasa
   mātulena Gopālīyā
   Vaihidarīputrena Āsā
   Āsāḍhasenena lenaṁ

kāritaṁ Udākasa dasa
me savachhare Kaśśapīyānaṁ Arahaṁ
(tā)naṁ.e..ī.i...e

2. Adhichhatrāyā raño Śonakāyanaputrasya Vaṁgapālasya putrasya raño Tevaṇīputrasya Bhāgavatasya putreṇa Vaihidarīputreṇa Āshāḍhasenena kāritaṁ

These two inscriptions should be rendered into English as follow :

1. This cave was caused (to be excavated) by Āshāḍhasena, the son of Vaihidarī (the same as the mother of) Gopālī and the maternal uncle of King Bahasatimitra (who was) the son of Gopālī, in the 10th year, (for the use of) the Kaśśapīya Arahaṁtas.

2. Caused (to be excavated) by Āshāḍhasena of Ahichhatrā, the son of Vaihidarī and King Bhāgavata (who was) the son of Tevaṇī and King Vaṁgapāla, the son of Śonakāyana.

Comments

In inscription 1, *Āsā* in line 4 is redundant, *Udākasa* in line 6 seems to be superfluous, and the mutilation in line 8 should contain a word to indicate 'for the use of', and not 'for the worship of'. *Udākasa* may, however, mean 'of *Udāka*' and it might have been a nickname of Bahasatimittra.

King Bahasatimittra should be identified with Bahasatimita, King of Magadha, mentioned in the Hāthīgumphā Inscription of Khāravela. (Ref. my *The Hāthīgumphā Inscription of Khāravela and the Bhabru Edict of Aśoka*, 2nd ed., 2000, pp. 42-46).

Although the donor Āshāḍhasena was the son of the King of Ahichhatrā, descended from Vaṁgapāla and Bhāgavata, he was himself not the king, which indicates that he was serving under King Bahasatimittra who was the ruler in this area.

A curious mode of indicating relationship is noted here. Āshāḍhasena was the maternal uncle of Bahasatimittra. Gopālī (the mother of Bahasatimittra) was the sister of Āshāḍhsena. The mother of both Gopālī and Āshāḍhasena was Vaihidarī, and she has been mentioned as *Gopālīyā Vaihidarī*.

Kaśśapīya Arahaṁta, here, refers to the ascetic followers of Pūrana Kassapa. This is a hitherto known solitary reference to the followers of Pūrana Kassapa, in the 2nd century B.C. The earlier

hypothesis that it was 'for the worship of Arahaṁtas, that is the Jain Tīrthaṁkaras, because Mahāvīra and Pārśvanātha were of Kāśyapa Gotra', is not tenable because the ascetic followers of these Tīrthaṁkaras are not known to have been referred to as Kāśyapīya Arahaṁtas, nor these Tīrthaṁkaras are known to have been designated as such.

2. The Āyāgapaṭṭa inscription from Kosam

This inscription was found by Major B.D. Basu in December 1908 from the ruins of Kosam, and was edited by R.D. Banerji in *Archaeological Survey of India, Annual Report,* 1913-14, pages 262-63 (Plate LXXa).

It is inscribed on one edge of a square slab of red sandstone. The slab measures 2 feet 1 inch by 2 feet 1 inch, and is 3.5 inch thick, is broken on one corner and is carved on one face only. In the centre of the slab is carved a full-blown lotus flower with eight petals, surrounded by four Tri-ratna symbols in which the projections on the sides are shaped like fish-tails. The corners of the squares in which these symbols are disposed, are occupied by four branches of date-palm; and around the side on the square runs a border adorned with the cable design or lotus-rosettes of various shapes or undulating creepers mingled with blossoming lotus-flowers, and the like.

The inscription is in 3 lines, in the Brāhmī script of *circa* 1st century B.C. The text is as follows :

Sidha Rajño Śavamitrasa śavachhare 10 2...kha maha kiya...

Thavirasa Baladāsasa navatana śa... Śavanandisa aṁtevāsisa...

... vapalatana āyapaṭo tha . yaṭi.... . ye

The mutilations have been restored and the reconstructed text, with restorations in bracket, is as follows :

Si(d) dha(ṁ) R(ā)jño Ś(i)vamitrasa sa(ṁ)vachhare10 2.... kha maha kiya...

Thavirasa Baladāsasa n(i)va(r)tana śa... Ś(i)vanandisa āṁtevāsisa...

(Śi)vap(ā)l(i)tana āyapaṭo tha(pa)yati (Arhata pujā)ye

In line 1, the letters *kha maha kiya* and the mutilations before and after these letters may indicate the place name but it cannot be

made out. In line 2, *śa*... appears to be the scribe's mistake which has not been erased.

It should be rendered into English as follows :

'(There be) success. In the year 12 of King Śivamitra..... This āyāgapaṭṭa (tablet of homage) has been installed for the worship of the Arahaṁtas, by Śivapālita, the disciple (aṁtevāsī) of Śivanaṁdi, at the behest of Sthavira Baladāsa'.

Comments

Siddhaṁ at the beginning simply indicates an auspicious beginning as suggested by Banerji. It is not an abbreviation of *Namo Siddhānaṁ* of the Jain Hymn of Obeisance.

The key-words are Thavira and Aṁtevāsi. The Tri-ratna motif displayed on the tablet is common to both the Jains and the Buddhists. In view of the facts that the Jain monks are not usually designated as Sthavira and the practice of Aṁtevāsi is also not prevalent in the Jain monastic order, the practice of installing āyāgapaṭṭas was common to both the Jains and the Buddhists, and Arahaṁta was also common to both, there is a strong presumption that this tablet of homage might belong to Buddhism and might have been a relic of the Ghositārāma monastery.

The Buddhist monasteries of Ghositārāma at Kaushambi and Jetavana-Vihāra at Shravasti had been established in the time of the Buddha himself. It is quite likely that the aged monks permanently resided there and had disciples to look after them.

3. The Pāle Cave Inscription

A 4-line inscription was discovered by Mr. R.L. Bhide in April 1968. It was reported by Dr. H.D. Sankalia in the *Dharmayuga* of 5th December 1968 and was later dealt at length in his article in the *Mahāvīr and his Teachings* (pp. 389-94) (published by the Bhagavān Mahāvīr 2500th Nirvana Mahotsava Samiti, Bombay). Dr. Sankalia also noted that the inscription was being edited in the *Epigraphia Indica* by Mr. Bhide and Dr. (Mrs.) Shobhana Gokhale.

The village Pāle is in Pune district, about 13 km. off the main Mumbai-Pune Road from Kamshet. To the left of the village is the foot of a hill, on the top of which there is a cave, at a height of some 70 meters, reached by a difficult climb because the slope is thickly covered with vegetation. The cave faces the east, and it

measures 22.75 meters in depth, 5.67 meters in breadth and 7.27 meters in height.

On the left hand wall of the cave there is a cell measuring 1.27 meters in depth, 1.2 meters in breadth and 1.21 meters in height, and it has also a bench inside. An inscription is carved on this wall just near the original entrance, about 2 meters above the ground level, and below the inscription is also carved out a cistern. The inscription is carved on a specially prepared space about 50 cms. by 40 cms., and the inscription engraved in 4 lines occupies an area of 39 cms. by 17 cms.

The inscription is in Brāhmī script, palaeographically of about the beginning of the Christian era. It is in inscriptional Prakrit of Western Maharashtra of that time. It is in 4 lines, as follows :

Namo Ārahṁtānaṁ Kātuna
da Bhadaṁta Iṁdarakhitena lena
kārāpita Podhi cha sāhākāhi
saha

The text of the inscription permits the following translation :

'Obeisance to the Arahaṁtas. This cell dwelling together with the water-bowl, has been excavated by Kātu along with his associates for Reverend Iṁdarakhita.'

Comments

Bhadaṁta is the key-word which provides a clue to the interpretation of this inscription. *Bhadaṁta (Bhadanta)* is an appellation used for Buddhist monks and means simply 'reverend'. It bears out that it relates to Buddhism. Iṁdarakhita is also a usual Buddhist name. The names of Buddhist monks are found as Indarakhita, Buddharakhita and Dhammarakhita, and the like.

Da in line 2 seems to be the scribe's error because it does not carry any sense. Kātuna in line 1 is the donor. It may also mean 'by Kātuna' or 'by Kātu'. It is an unusual name but it seems to be in line with many other names found in the Prakrit inscriptions of those times, and which seem to refer to the foreigner Śakas who had adopted Buddhism.

Dr. Sankalia interpreted it to be a Jain Inscription, misled by the beginning *'Namo Arahaṁtānam'*. The word *Arahanta (Arahaṁta)* is also used for Tathāgata Bhagavān Buddha, as also

for the Buddhist monks. Therefore, the invocation to the Arahaṁtas at the beginning of the inscription does not relate it to Jainism alone. Since the word *Bhadaṁta* applies generally to the Buddhist monks, and not in relation to the Jain monks, it determines its relationship with Buddhism. The provision of cistern (*poḍhi*) or water-bowl for storing water, also suggests that it could not be for the Jain monks.

Lena means a cave dwelling, more specifically a cell carved inside a big cave, and not the cave as such. The dimensions of the cell are such that a person cannot lie down or stand or even sit comfortably inside it. The specific purpose of such dwelling is not known but it may be presumed that they were used by some ascetics including the Buddhist monks for purposes of meditation or penance of some sort. The provision of water-bowl in this case is also peculiar because it is not usually mentioned along with the *lena* elsewhere. It may be due to some personal requirement of Reverend Iṁdarakhita who might be suffering from some affliction in which water might be necessary.

Here, *Arahaṁtānaṁ* signify the Buddha and the Buddhist monks who formed the Buddhist congregation (Saṁgha). Obviously the donor would not be the Reverend Buddhist monk, instead it was provided for him. *Sāhākāhi saha* may refer to the associates of the donor who might have contributed in this pious deed.

4. The Mathura inscription of Utaradāsaka

The inscription is incised on a large ornamental rectangular slab. It was found during excavations at the Kaṅkālī Ṭīlā at Mathura. It was reported by George Bühler in *Epigraphia Indica*, II, at no.1 with plate, and is no. 93 in the Lüders' List in the *E.I.*, X, Appendix. V.K. Sharma has referred to it in his *History of Jainism with special reference to Mathura,* 2001, pp. 141, 220.

The text of the inscription is :

Samanasa Māharakhitāsa āṁtevāsisa Vachhīputrasa savakasa Utaradāsakasa pāsādo toranaṁ

It would mean : 'The gateway was donated by Śrāvaka Utaradāsaka, the son of Vachhī who was the disciple of Śramaṇa Mahārakhita, for obtaining benediction'.

The inscription is undated. It is in the Brāhmī script and is assigned to *circa* 2nd –1st century B.C. on the basis of palaeography.

It has all along been taken to refer to the donation of a gateway of a temple *(pāsādo toraṇaṁ).* The construction does not, however, seem to permit this interpretation. It simply refers to the gift of a gateway for invoking *prasādaḥ* or benediction.

The name Mahārakhita and the mention of Aṁtevāsi seem to indicate that it might have been related to some Buddhist shrine. The use of the appellation of *Samana (Śramaṇa)* as well as of *sāvaka (śrāvaka)* are also important. Vachhī (Vātsī) is a feminine name and indicates that she was the female disciple of Śramaṇa Mahārakhita to look after him.

5. The Mathura inscription of Dhāmaghoshā

It is a two-line votive inscription found from the Kankālī Ṭīlā, Mathura. It is reported in *E.I.,* X, App., no. 99 of Lüders' List; and is referred to by V.K. Sharma, *op. cit.,* pp. 149, 220.

It is in the Brāhmī script of about the beginning of the Christian era, and reads as follows :

Bhadaṁta Jayasenasya āṁtevāsinīye
Dhāmaghoshāye dāno pāsādo

It should be translated as "A gift (or charity) by Dhāmaghoshā, the female disciple of Bhadaṁtā (Reverend) Jayasena, to get blessings".

The use of Bhadaṁta seems to indicate that it related to Buddhism. It also shows that in those times Buddhist monks also had female disciples to take care of them. In the inscription of Utardāsaka, noted above, also Vachhī was the female disciple of Śramaṇa Mahārakhita.

The word *pāsādo* here, too, is equivalent to Sanskrit *prasādaḥ,* meaning grace, benediction or blessing. Similar is the case in the inscription of Asā, noted below. It is not synonymous with *prāsādaṁ* to mean temple. The words used for temple in the Mathura inscriptions of those times are *Arahatāyatana* and *Devakula.*

6. The inscription of Phuphaka's wife Asā

This fragmentary inscription from Mathura was noticed in the *Indian Antiquary*, XXXIII, p. 151, in A.D. 1905. It is also mentioned in *Jain Shilalekha Sangraha*, II, (ed. Vijaymurti, 1952), p. 53, no. 86.

It is in 2 lines, as follows :

.....ye Mogaliputasa Phuphakasa bhayāye
Asāye pasādo

It seems to record some charity given by Asā, wife of Phuphaka who was the son of Mogali, to get benediction. As we have noted earlier, the word *pasādo* has been used here also in the sense of *prasādaḥ*.

The inscription is in the Brāhmī script of about the beginning of the Christian era.

Mogaliputa is a Buddhist name. Phuphaka and Asā seem to be the indigenous folk names equivalent respectively to Pushpaka and Āśā.

Thus the inscriptions of Utardāsaka, Dhāmghoshā and Asā, noted at no. 4, 5 and 6 above, may refer to some Buddhist establishment in Mathura in *circa* 2nd century B.C. to 1st century A.D. Mathura was undoubtedly a centre of Buddhism in those times.

7. The Mathura inscription of Year 39 of Huvishka

It was found engraved on a pillar with elephant head. The inscription is in 4 lines, in the Brāhmī script, and is dated in the Year 39 of Kushāṇa King Huvishka, corresponding to A.D. 117. It was a stray find and was reported in the *Archaeological Survey Report*, III, pp. 32-33. It is also mentioned at No. 41 in Lüders' List, *E.I.*, X, App., and is referred to by V. K. Sharma, *op.cit.*, P. 173. The text is as follows :

Mahārājasya Devaputrasya Huvishkasya saṁ 39
he 3 di 11 etaya purvvaye Nandi Visāla
pratishṭhapito Sivadāsa śreshṭhiputreṇa śreshṭhinā
Aryyena Rudradāsena Arahaṁtanaṁ pujāye

It would be rendered into English as - 'On the 11th day of the third month of Hemanta in the Year 39 of Mahārāja Devaputra

Huvishka, this huge Nandi was installed by the merchant Ārya Rudradāsa, the son of merchant Śivadāsa, to honour the Arahaṁtās'.

The names of the donor and his father suggest that they were Śaivite. The setting up of Nandi who is particularly related to Śaivism, also indicates their Śaivite leaning. In this context the mention of *Arahaṁta* does not seem to refer to the Jain or Buddhist *Arahaṁta.* It seems that about that time there was some sect of the ascetics who belonged to the Śaivite cult and they also styled themselves as *Arahaṁtas.* This term would, therefore, mean only 'the venerable ones'.

Śaivism was also popular in the region in those times, and Śiva is found portrayed, among many other gods and goddesses including the Buddha, on the coins of Kanishka, the grandfather of Huvishka.

Ārya is used as an honorific, equivalent to 'Noble' or 'Śrī'.

8. The inscription of the Year 299 - from Mathura

This inscription was reported by George Bühler in *Journal of the Royal Asiatic Society,* 1896, pp. 578-81. It is at no. 78 in Lüders' List, *E.I.,* X, App., and is also referred to by V.K. Sharma, *op. cit.,* pp. 149-50.

It is in 5 lines, in the Brāhmī script, and reads as follows (with restorations in brackets) :

Namas sarva Siddhānā Arahantāṇā. Mahārājasya Rājātirājasya saṁvachhara śate d(utiye nava navatyādhike)

200 90 9 Hemantamāse 2 divase 1 Ārahāto Mahāvīrasya prātimā

... sya Okhārikāye dhitu Ujhatikāye cha Okhāye śrāvikā bhaginiy(e)...

..... Śarikasya Śivadināsya cha etaiḥ Ārāhātāyatāne sthāpit(ā) .... Devakulaṁ cha

It may be rendered into English as follows :

'Obeisance to all the Siddhas and Arahantas. On the first day of the second month of Hemanta in the Year 299 of Mahārāja Rājātirāja, the image of Arahata Mahāvīra was installed in this temple of Arahantas, by Ujhatikā and Okhā, daughters of Okhārikā,

and Śrāvikā (female lay devotees) sisters of Śarika and Śivadinā. ..... and the Devakula.'

This inscription seems to indicate some important historical facts. Firstly, that the year reckoning of the Kushāṇas was current in the Mathura region long after the rule of the Kushāṇas had ended. Mahārāja Rājātirāja was the title used by the Kushāṇa kings. The Year 299 takes us to A.D. 377. By that time Mathura had become a part of the Gupta Empire, therefore it is not possible that any scion of the Kushāṇa family might have had a principality in or around Mathura. The inscription also does not mention the name of any person with that title.

The other important feature of this inscription is that it mentions the Jain Hymn of Obeisance with the Siddhas preceding the Arahantas. In the Hāthīgumphā Inscription of Khāravela (*circa* 172 B.C.) it is the Arahantas who precede the Siddhas. It seems to indicate that by the time of the instant inscription (A.D. 377) the Five-fold Jain Hymn of Obeisance was not fully standardized and the devotees could take liberty in paying obeisance to the Arahantas and the Siddhas as they liked. It also indicates that the components of Āchārya, Upādhyāya and Sādhu were added to the Hymn later on and the present prevalent form ought to be thus taken posterior to A.D. 377.

The term used in this inscription for the Jain temple is Arahatāyatana. The mention of Devakula seems to indicate that by that time some secondary deities had emerged and the term may indicate that idols of some such deities were also installed.

Epilogue

The above discussion may inspire scholars in the field to review the interpretations of some of the ancient epigraphs. Such an exercise may also be attempted to re-evaluate the literary traditions and data to sift the cogent and coherent historical material.

महावीर-सन्देश

- पं० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

यही है महावीर-सन्देश!
विपुलाचल पर दिया गया जो, प्रमुख धर्म उपदेश !।
यही है महावीर-सन्देश।!
सब जीवों को तुम अपनाओ, हर उनके दुःख क्लेश।
असद्भाव रक्खो न किसी से, हो अरि क्यों न विशेष।।१
यही है महावीर-सन्देश!
बैरी का उद्धार श्रेष्ठ है, कीजे सविधि विशेष।
वैर छुटे, उपजे मति जिससे, वही यत्न यत्नेश।।२
यही है महावीर-सन्देश!
घृणा पाप से हो, पापी से नहीं कभी लवलेश।
भूल सुझाकर प्रेम मार्ग से, करो उसे पुण्येश।।३
यही है महावीर-सन्देश!
तज एकान्त-कदाग्रह-दुर्गुण, बनो उदार विशेष।
रह प्रसन्नचित्त सदा, करो तुम मनन तत्त्व-उपदेश।।४
यही है महावीर-सन्देश!
अहंकार-ममकार तजो, जो अवनतिकार विशेष।
तप संयम में रत हो, त्यागो तृष्णा भाव अशेष।।६
यही है महावीर-सन्देश!
वीर उपासक बनो सत्य के, तज मिथ्या अभिनिवेश।
विपदाओं से मत घबड़ाओ, धरो न कोपा-वेश।।७
यही है महावीर-सन्देश!
संज्ञानी-सम्दृष्टि बनो, औ तजो भाव संक्लेश।
सदाचार पालो दृढ़ हो कर, रहे प्रमाद न लेश।।८
यही है महावीर-सन्देश!
सादा रहन-सहन-भोजन हो, सादा भूषा-वेष।
विश्व-प्रेम जागृत कर उर में, करो कर्म निःशेष।।९
यही है महावीर-सन्देश!
हो सबका कल्याण, भावना ऐसी रहे हमेश।
दया लोक-सेवा रत चित्त हो, और न कुछ आदेश।।१०

यही है महावीर-सन्देश!
इस पर चलने से ही होगा, विकसित स्वात्म-प्रदेश।
आत्म ज्योति जगेगी ऐसी, जैसे उदित दिनेश।।११
यही है महावीर-सन्देश!
विपुलाचल पर दिया गया जो, प्रमुख धर्म उपदेश।
यही है महावीर-सन्देश!
(वीर शासन की २५००वीं जयन्ती पर १९४४ ई. में रचित।)

देश और धर्म

- डॉ. परमानन्द जड़िया

भारत हमारा

सागर हमारा, नग राज है हमारा और
जाह्नवी की धारा, काश्मीर भी हमारा है।
उत्तर हमारा, दूर दक्षिण हमारा, पूर्व
पश्चिम हमारा, मध्य भारत हमारा है।।
अवध हमारा, ब्रज-मण्डल हमारा,
जैन मंदिर हमारा, सारनाथ भी हमारा है।
कण-कण देश का पवित्र गुरुद्वारा सम
भारत हमारा देव-लोक से भी न्यारा है।।

हमारा धर्म

सत्य शांति संयम अहिंसा है हमारा धर्म
पर हित साधना में रत रहते हैं हम।
संग्रह की वृत्ति पर-पीड़न प्रंपच त्याग
वसुधा को अपना कुटुम्ब कहते हैं हम।।
मोक्ष प्राप्ति के निमित्त बन के विरक्त नर
धूप शीत पावस सहर्ष सहते हैं हम।
प्रेम की पवित्र 'परमानंद' पयस्विनी में
क्रीड़ा करते हैं उन्मुक्त बहते हैं हम।।

- जड़िया निवास, १८९/५१, खत्री टोला, मशकगंज, लखनऊ-२२६०१८

रोया मैं

- श्री राजीव कान्त जैन

कल जब मैं दुनिया में आया
रोया था
कल से आज तक
सोया था
ख़्वाबों की दुनिया में
खोया था,
ख़्वाब हकीकत नहीं
छलते रहे हर पल
वक़्त घटता रहा पल-पल
आंख खुली
अंतिम प्रहर थी आंख मूंद रही
रोशनी की फैलती परछायी
शंख ध्वनि थी गूंज रही
सामने थे पर कहार चार
कांधा लिये तैयार
फिर रोया मै
बहुत रोया।

- जनरल मैनेजर, रेल विकास निगम लि., पुणे

(समय का सदुपयोग ही मानव जीवन की सार्थकता है, यही इन पंक्तियों का अर्थ-बोध है। - सं.)

सागर और कूप

- श्री अमरनाथ

हे सागर!
माना तू महानतम है,
विशालतम है, गहनतम है
अपरम्पार है तू, पारावार है तू
अगणित निधियों का आगार है तू
जलराशि का संसार है तू।।
तेरे पास पीयूष है, पीयूषरुचि भी
सुरा, सुन्दरी, कौस्तुभ, ऐरावत, उच्चैश्रवा भी,
सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को मौत की नींद सुला देने हेतु कालकूट भी।।
मूंगे-मोतियों का समाया है असीमित भण्डार
तभी तो रत्नाकर कहता है तुझे संसार।।
सारी पृथिवी को खरीद सकता है तू,
क्रोध में उसे आगोश में लपेट सकता है तू,
तेरी भीगी चादर में लिपटा है भूगोल
कोई नहीं आंक सकता तेरा मोल।
तू अकूत है, अथाह है, अतुल है, अगाध है
जीवन की पहली और अन्तिम साध है।
पर कभी तूने अपने विशाल सीने के अन्दर झांका है?
खुद को खुद ही मापा है?
जब तू हहराता है, पूरा भूगोल डगमगाता है
एक ज़लज़ला सा आता है,
जल थल में, थल जल में समा जाता है।
तेरे तट पर, तेरे ही बच्चों की लाशों का अम्बर लग जाता है।
अम्भोनिधि होकर भी रहता हमेशा प्यासा है।।
तू दिन-रात जलता है अग्नि से,
सिर धुनता है चट्टानों से
संसार की सारी नदियां तुझमें ही समा जाती हैं
पर सब मिलकर भी तेरी प्यास नहीं बुझा पाती हैं,
तेरी खुदी को नही मिटा पाती हैं।
तेरी शरण में जो भी आता है,
वह भी हमेशा रहता प्यासा है।
यद्यपि रत्नों से उसकी झोली भर देता है तू
पर जीवन भी खारा कर देता है तू।
तेरे पास न फूलती कभी चमेली, न पनपता हारसिंगार

तेरे पास से नहीं गुजरती बहार।
उधर जरा देख, वह है एक छोटा सा कुआं
ज़िन्दगी में जिसकी बस धुआं ही धुआं।
पर अपनी खुदी को खुद ही समेटता हुआ
संकोच के शाल को बदन पर लपेटता हुआ
उसके पास नहीं कोई रत्न है
पर ईमानदारी से भरा सतत प्रयत्न है,
कि ---
कोई प्यास भूला-भटका मुसाफिर
उसके पास आकर, न प्यासा लौट जाए
मीठे जल से अपनी प्यास बुझाए।
कुछ देर ठहरे, विश्राम करे, शीतल जल से स्नान करे,
कांवरियां कांवर उतारें, उसकी जगत पर,
कोई ऋषि चन्दन घिसे उसके मस्तक पर,
कभी थके-हारे राम, उसके पानी से खड़ाऊँ धोंए,
कोई सीता अपने रोते मुख को भिगोए,
कोई पास में उगी चमेली को पानी दे
उसकी सुवासित खुशबू को पथ में बिखेरने दे।
कुमारियां, पायलों से उसके सीने में संगीत भरें
अल्हड़ बालायें बैठकर लोक-गीत रचें।
विवाहिता पूजा करें, मनौती करें, उसके किनारे खड़े पीपल की
बांझ के कलंक से बचने की।
कोई रात को उसकी जगत पर दीपक जलाए
ताकि चलता हुआ जगत, राह न भटक जाए।
उसका चुल्लू-भर पानी, मन की प्यास बुझा जाता है
तन को शीतल बना जाता है।
इसीलिए समाज ने उसे अपनाया
छोटा सा कूप होते हुए भी, घर-आंगन में बिठाया।
पर----पर--तुझे, बाहर ही बाहर, एक किनारे धकियाया।।
क्योंकि रत्नों से प्यास नहीं बुझती----
खारे पानी में आस नही उगती---
प्यास बुझाने को चाहिए शीतलता----
आस उगाने को चाहिए मदुलता---
केवल बड़ा हो जाने से, कोई बड़ा नहीं होता
जब तक दीन-दुखी के दर्द में खड़ा नहीं होता।
इनमें से कुछ भी नहीं है, तेरे पास, ओ नदीश!
रत्नाकर होते हुए भी पृथिवी पर है तू सबसे गरीब।
तेरे नसीब!! ओ बदनसीब!!!

- ४०१ ए, उदयन-१, बंगला बाजार, लखनऊ -२२६००२

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ०प्र०

प्रतिवेदन वर्ष २०१०-११

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तर प्रदेश, का गठन सन् १९७६ ई० में २४वें तीर्थंकर भगवान वर्धमान महावीर स्वामी का २५००वां निर्वाण महोत्सव वर्ष मनाने के लिए राज्य सरकार द्वारा गठित **श्री महावीर निर्वाण समिति, उ०प्र०,** की उत्तराधिकारी संस्था के रूप में जैन धर्म की सभी आम्नायों के महानुभावों के सहयोग से किया गया था तथा गठन के तुरन्त बाद ही उसे सोसायटी रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अन्तर्गत रजिस्टर्ड करा लिया गया था जिसका नियमानुसार नवीनीकरण कराया जाता रहा है। समिति का २००९-१० का प्रतिवेदन **शोधादर्श-७०** (जुलाई २०१०) के पृष्ठ ४५-४९ पर प्रकाशित है। यहां वर्ष २०१०-२०११ (१ अप्रैल, २०१० से ३१ मार्च, २०११) का प्रतिवेदन प्रस्तुत है।

आलोच्य वर्ष में समिति की प्रवृत्तियों की प्रगति निम्नवत् रही -

१. तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र शोध पुस्तकालय

पुस्तकालय की स्थापना वर्ष १९७६ की श्रुतपंचमी को की गई थी और इसका विधिवत् उद्घाटन २३ अक्टूबर, १९७६, को प्रदेश के तत्कालीन ग्राम्य विकास मंत्री माननीय डॉ. रामजीलाल सहायक के कर कमलों से सम्पन्न हुआ था। पुस्तकालय और उससे संलग्न वाचनालय श्री मुन्नेलाल कागजी धर्मशाला ट्रस्ट, चारबाग, लखनऊ द्वारा धर्मशाला के प्रथम तल पर उपलब्ध कराये गये एक कक्ष में प्रारंभ किया गया था, जो मई २००१ से धर्मशाला के भूतल पर किराये पर उपलब्ध कराये गये दो कक्षों में चल रहा है।

समिति के सदस्यों के अतिरिक्त पुस्तकालय के सदस्य भी हैं जिनकी संख्या इस वर्ष ७९ रही। लखनऊ में चारबाग ही नहीं वरन् आसपास की कॉलोनियों के जैन परिवार तथा अनेक जैनेतर जिज्ञासु महानुभाव भी पुस्तकालय के सदस्य हैं। कुछ सदस्य लखनऊ के बाहर के भी हैं।

पुस्तकालय में जैन धर्म, दर्शन, संस्कृति आदि के अध्ययन हेतु जैन धर्म की सभी आम्नायों का साहित्य तथा शोधार्थियों द्वारा तुलनात्मक अध्ययन के लिए अन्य भारतीय धर्मों, दर्शनों एवं संस्कृति से सम्बन्धित महत्वपूर्ण साहित्य संग्रहीत है। अपने विशिष्ट संकलन के लिये इन विषयों के शोधार्थी पाठकों में यह पुस्तकालय विशेष लोकप्रिय है तथा लखनऊ व कानपुर विश्वविद्यालय से सम्बद्ध अनेक शोध छात्र इससे लाभ उठाते हैं। सामान्य रुचि के पाठकों के लिए लौकिक एवं सामान्य ज्ञानवर्धन साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है।

वर्ष २०१०-११ में पुस्तकालय में ४२५ पुस्तकों की वृद्धि हुई। राजा राममोहनराय पुस्तकालय प्रतिष्ठान कोलकाता से प्रदेश सरकार के शिक्षा विभाग (पुस्तकालय कोष्ठक) के माध्यम से पुस्तक अनुदान के रूप में ३६४ पुस्तकें प्राप्त हुई। शेष पुस्तकें अन्य महानुभावों से भेंट स्वरूप प्राप्त हुई।

पुस्तकालय-वाचनालय से प्रतिदिन प्रायः ५० पाठक लाभ उठाते हैं। पुस्तकालय-वाचनालय का समय प्रातः ९.०० से अपराह्न २.०० बजे तक है। शनिवार और सार्वजनिक अवकाश पर पुस्तकालय-वाचनालय बन्द रहता है।

पुस्तकालय-वाचनालय का कार्य पूर्ववत् पुस्तकालय व्यवस्थापिका श्रीमती हेमा सक्सेना, एम० ए०, द्वारा सुचारू रूप से देखा जाता रहा।

२. शोधादर्श

जैन विद्या की शोध को समर्पित चातुर्मासिक शोध-पत्रिका **'शोधादर्श'** का प्रकाशन फरवरी १९८६ में समिति द्वारा प्रथम अंक के प्रकाशन से प्रारंभ किया गया था। इसके आद्य-सम्पादक इतिहास-मनीषी विद्यावारिधि डॉ. ज्योति प्रसाद जैन थे। जून १९८८ में उनके स्वर्गवास के उपरान्त अंक ७ से प्रधान सम्पादक के उत्तरदायित्व का निर्वहन डॉ. शशि कान्त ने किया। अंक ३० (नवम्बर १९९६) से अंक ५६ तक प्रधान सम्पादक के कार्यभार का सम्पादन श्री अजित प्रसाद जैन ने किया। उनके निधन के उपरान्त अंक ५७ (नवम्बर २००५) से अंक ६७ (मार्च २००९) तक श्री रमा कान्त जैन ने इसके सम्पादन के दायित्व का निर्वहन किया।

अंक ६८ (नवम्बर २००९) से **शोधादर्श** के सम्पादन का दायित्व मेरे द्वारा निर्वहन किया जा रहा है।

इस वर्ष प्रकाशित अंक ६९, ७० और ७१ में २५२ पृष्ठों में प्रकशित ज्ञानप्रद व उपयोगी पठनीय सामग्री की प्रबुद्ध पाठकवृन्द द्वारा व्यापक सराहना की गई। पत्रिका की लोकप्रियता में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है तथा आज यह पत्रिका देश की उच्च स्तरीय धार्मिक-सांस्कृतिक शोध-पत्रिकाओं में अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

३. तीर्थंकर छात्र सहायता कोष

इस वर्ष आर्थिक दृष्टि से निर्बल ३० छात्र और २६ छात्राओं, अर्थात् ५६ विद्यार्थियों, को अध्ययन जारी रखने हेतु आंशिक सहायता प्रदान करने पर रु. २५०००/- का व्यय किया गया। उप मंत्री श्री महेन्द्र प्रसाद जैन ने इस कार्य के सम्पादन में बहुमूल्य योगदान किया।

४. महावीर जन कल्याण निधि

इस वर्ष पांच असहाय महिलाओं और एक असहाय वृद्ध पुरुष को सहायता प्रदान करने पर रु. ३१५०/- का व्यय किया गया।

५. अन्य प्रवृत्तियां

जिला विद्यालय निरीक्षक, लखनऊ और पुस्तकालय कोष्ठक, उ०प्र० शासन, को वर्ष २००९-१० के पुस्तकालय अनुदान हेतु निर्धारित प्रपत्र पर प्रार्थना पत्र यथासमय भेज दिया गया। वित्तीय वर्ष २००९-१० (असेसमेन्ट वर्ष २०१०-११) का इन्कम टैक्स रिटर्न भी यथासमय जमा कर दिया गया। रजिस्ट्रार, सोसायटीज, उ०प्र०, लखनऊ को यथावश्यक सूचना प्रेषित की जाती रही और समिति के रजिस्ट्रेशन का नवीकरण नियमानुसार करा लिया गया।

६. लेखे की स्थिति

समिति के लेखों का आडिट इस वर्ष भी श्री आलोक जिन्दल, चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट द्वारा किया गया और उनके माध्यम से आयकर कार्यालय को आवश्यक विवरणी यथासमय प्रस्तुत की जायगी।

शासन से प्राप्त उपर्युक्त पुस्तक अनुदान तथा कतिपय दातारों से भेंट स्वरूप प्राप्त साहित्य के अतिरिक्त कुल प्राप्तियां वर्ष में रु० १,४७,१६८.४५ पैसे रहीं (इसमें रु० ३००/- पुस्तकालय सिक्योरिटी राशि भी है जो रिफन्डेबिल है) तथा व्यय रु. १,०८,३६४.०० हुआ। प्राप्ति-व्यय की विवरण तालिका संलग्न है। इसमें पुस्तकालय-वाचनालय का ८००/- प्रतिमास की दर से किराया रु. ९६००/- सम्मिलित नहीं है क्योंकि उसका समायोजन श्री मुन्ने लाल कागजी धर्मशाला ट्रस्ट को पूर्व में दी गई एक लाख रु. की अग्रिम धनराशि से होता है।

अन्तिम

विगत वर्ष २०१०-११ की सभी प्रवृत्तियों के सम्पादन में मुझे समिति के अध्यक्ष श्री लूणकरण नाहर जैन का तथा उपाध्यक्ष श्री नरेश चन्द्र जैन, कोषाध्यक्ष श्री बिजयलाल जैन, संयुक्त मंत्री डॉ. विनय कुमार जैन, और उपमंत्री श्री महेन्द्र प्रसाद जैन ब श्री रोशन लाल नाहर का सक्रिय सहयोग एवं मार्गदर्शन निरंतर उपलब्ध रहा। **शोधादर्श** का सम्पादन डॉ. शशि कान्त के मार्गदर्शन में और सह-सम्पादक श्री सन्दीप कान्त जैन, श्री अंशु जैन 'अमर' व डॉ. (श्रीमती) अलका अग्रवाल के सहयोग से व्यवस्थित किया जाता रहा। सभी प्रवृत्तियों में प्रबंध समिति के माननीय सदस्यों का सौहार्दपूर्ण सहयोग प्राप्त रहा। इन सभी महानुभावों के प्रति आभार व्यक्त करना मेरा व्यक्तिगत और नैतिक दायित्व है।

- नलिन कान्त जैन
महामंत्री

TIRTHANKAR MAHAVIR SMRITI KENDRA SAMITI, U.P.

Statement of Receipts & Payments For the Year Ending 31st March, 2011

RECEIPTS		Rs. P.	PAYMENTS		Rs. P.
Balance b/d:			Research Library:		
F.D.R.s	2175014.00		Salary Libr. Asstt.	32000.00	
Savings Bank	28954.52		Salary Cleaner	2100.00	
Cash in Hand	9710.10		Contingencies	617.00	
		2213678.62			34717.00
Research Library:			Shodhadarsh Mazazine:		
Security Deposit	300.00		Stationery & Prtg.	34000.00	
Subscription	920.00		Dispatch Postage	6486.00	
Misc. Receipts	297.00				40486.00
		1517.00	Stationery		843.00
Shodhadarsh Magazine:			Postage		330.00
Subscription	3785.00		M.J.K. Nidhi Expenses		3150.00
Donation	3157.00		T. C. S. Kosh Scholarship Exp.		25000.00
		6942.00	I.T. Counsel's & Audit Fee		1450.00
			Ragistration Renewal Fee		1100.00
Misc. Receipts		541.00	Excess Interest Refunded		1288.00
Interest on F.D.R.s		134395.91	Balance c/d:		
Interest of Savings Bank		2373.00	F.D.R.s	2176073.00	
Scholarship Amount Returned		1400.00	Savings Bank	71450.97	
			Cash in Hand	4959.10	2252483.07
	Total	**2360847.07**			**2360847.07**

नलिन कान्त जैन
महामंत्री
तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ. प्र.

Compiled on the basis of Information and explanations furnished.
For Avanish K. Rastogi & Associates
Chartered Accountants
Alok Jindal
Parther

Lucknow April 06, 2011

पुण्यतिथि पर पुनीत स्मरण

श्री रमा कान्त जैन की द्वितीय पुण्य तिथि

दिनांक २६ मई २०११ को ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ में श्री रमा कान्त जैन की द्वितीय पुण्यतिथि पर स्मृति गोष्ठी का आयोजन किया गया। श्री महेन्द्र प्रसाद जैन ने अध्यक्षता की। श्री रमा कान्त जैन के चित्र पर माल्यार्पण और पुष्पांजलि क्षेपण के उपरान्त मंगलाचरण स्वरूप **वीतराग स्वरूपम्, जय महावीर नमो** और **महावीराष्टक** का पाठ किया गया। तदुपरांन्त श्री रवि मोहन त्रिवेदी, डॉ. विजय कुमार जैन, श्री अंशु जैन 'अमर', श्री स्वराज चन्द्र जैन, श्री सन्दीप कान्त जैन, श्री लूणकरण नाहर जैन और श्री अनिल बांके ने श्री रमा कान्त के सम्बन्ध में अपने संस्मणात्मक उद्‌गार प्रकट किये तथा श्री रमा कान्त के शान्त एवं सरल व्यक्तित्व को रेखांकित किया। डॉ. श्रीमती राका जैन ने "जीवन क्रम है टेढ़ा-मेढ़ा, मानवता सिहर उठी, जन मन हुआ हिंस्र, विद्वेषी दानवता मुखर उठी" का भावपूर्ण प्रस्तुतिकरण किया। श्री लूणकरण नाहर जैन ने भी भावपूर्ण भजन "दुनिया में देव अनेकों हैं, अर्हन्त देव का क्या कहना, उनके अतिशय का क्या कहना, उनके आश्रय का क्या कहना प्रस्तुत किया।" श्री स्वराज चन्द्र जैन और श्रीमती नीलम जैन ने भी भावपूर्ण भजन प्रस्तुत किये। श्री अनिल बांके ने श्री रमा कान्त की व्यंग्य पूरित रचनाओं का वाचन किया और अपनी हास्य-व्यंग्य की रचनाओं से वातावरण को रस सिक्त किया।

डॉ. ज्योति प्रसाद जैन की २३वीं पुण्यतिथि

११ जून को इतिहास-मनीषी विद्यावारिधि डॉ. ज्योति प्रसाद जैन की २३वीं पुण्य तिथि पर ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ में स्मृति गोष्ठी का आयोजन किया गया। डॉ. साहब को प्रिय रहे भजनों का सामूहिक पाठ किया गया और उनकी स्वयं की रचनाओं **वीतराग स्वरूपम्** तथा **जय महावीर नमो** का सस्वर पाठ किया गया।

श्री अजित प्रसाद जैन की ६ठी पुण्यतिथि

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ.प्र., की प्रबन्ध समिति की दिनांक २५ जून को सम्पन्न बैठक में संस्थापक-महामंत्री श्रद्धेय श्री अजित प्रसाद जैन के चित्र पर अध्यक्ष द्वारा माल्यार्पण तथा अन्य उपस्थित महानुभावों द्वारा पुष्पांजलि अर्पण करके उनकी ६ठीं पुण्यतिथि पर उनका पुनीत स्मरण किया गया। श्री अंशु जैन

'अमर' ने उनके व्यक्तिव और कृतित्व पर विशद प्रकाश डाला और यह भावना व्यक्त की कि उनका स्मरण परिवारजनों, समाज और समिति के सदस्यों को सदैव ही प्रेरणा प्रदान करता रहेगा। श्री डी. के. जैन ने कहा कि धर्म सम्बन्धी शंका के समाधान के लिए वह इतिहास-मनीषी डॉ. ज्याति प्रसाद जैन से सम्पर्क करते थे और उनके बाद श्री अजित प्रसाद जैन से समाधान करते थे। उनकी निर्भीकता का जिक्र करते हुए बताया कि मुनि श्री सौरभ सागर के चातुर्मास के वक्त मंगलाचरण में संशोधन किये जाने पर उन्होंने विरोध किया था जिसे बाद में सही किया गया था। डॉ. शशि कान्त ने अपनी भावना व्यक्त करते हुए कहा कि यद्यपि चाचा जी एक नैष्ठिक श्रावक थे, वे स्वतंत्र चिन्तन का स्वागत करते थे और अंधविश्वास एवं धार्मिक कदाग्रह को प्रोत्साहित नहीं करते थे। अन्त में, अध्यक्ष श्री लूण करण नाहर जैन ने अपनी काव्यांजलि प्रस्तुत की-

ओ जैन जगत के प्रदीप्त, जन-मन के नयन सितारे।
श्रद्धा के कुसुम समर्पित हैं, स्वीकार करो पूज्यवर प्यारे।।

- नलिन कान्त जैन

आभार

श्री विपिन कुमार खिन्दूका, जयपुर, ने अपने पिता जी श्री ज्ञानचन्द खिन्दूका की पुनीत स्मृति में **शोधादर्श** को रु. २१००/- भेंट किये।

श्री लूणकरन कमलादेवी नाहर जैन ट्रस्ट, राजेन्द्र नगर, लखनऊ ने रु. १५००/- भेंट किये।

श्री सुरेशचन्द्र जैन, मसूरी, ने रु. २५०/- भेंट किये।

श्रीमती आशा जैन ने अपने पति श्री रमा कान्त जैन की द्वितीय पुण्य तिथि पर उनकी पुनीत स्मृति में रु. २०१ भेंट किये।

डॉ. शशि कान्त ने अपने पिता जी डॉ. ज्योति प्रसाद जैन और चाचा जी श्री अजित प्रसाद जैन की पुण्य तिथियों पर उनकी पुनीत स्मृति में रु. १०१/- भेंट किये।

श्रीमती शारदा जैन, लखनऊ, ने अपनी माता श्रीमती विद्यावती जैन और पुत्र श्री आदित्य प्रकाश जैन की पुनीत स्मृति में रु. १०१/- भेंट किये।

श्री धन कुमार जैन, इन्दिरानगर, लखनऊ, ने रु. १००/- भेंट किये।

- सम्पादक मण्डल

समाचार विविधा

महावीर जयन्ती

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, १६ अप्रेल २०११, को महावीर जयन्ती के उपलक्ष में लखनऊ में श्री जैन धर्म प्रवर्द्धनी सभा की ओर से चारबाग स्थित जैन मंदिर से निकली शोभायात्रा नाका हिण्डोला, गणेशगंज, अमीनाबाद, श्रीराम रोड, लाटूश रोड, मोहन होटल होते हुए पुनः चारबाग जैन मंदिर में समाप्त हुई। इसमें राजस्थान के खण्डवा के भजन गायक प्रदीप जैन छाबड़ा ने भजन सुनाए। डालीगंज के महावीर पार्क में सार्वजनिक सभा एवं सांस्कृतिक आयोजन भी हुआ। मुख्य अतिथि केन्द्रीय राज्यमंत्री प्रदीप जैन 'आदित्य' ने महावीर स्वामी के जीवन दर्शन के बारे में बताया। महापौर डॉ. दिनेश शर्मा, विधायक श्री श्याम किशोर शुक्ला और सभा के अध्यक्ष श्री विनय कुमार जैन ने भी अपने विचार रखे। श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन सभा की ओर से आलमबाग के पटेलनगर स्थित महावीर जैन साधना केन्द्र में डॉ. शशि कान्त जैन ने भगवान महावीर के 'जियो और जीने दो' के कल्याणकारी सिद्धांत को व्यवहार में अपनाने पर बल दिया। सर्वश्री विजय नाहर जैन, प्रकाश चन्द्र जैन, अंशु जैन व कला कुमार ने भी अपने विचार व्यक्त किए। लूणकरण नाहर जैन, सौरभ जैन, अर्चना जैन, शशि जैन, सौम्या नाहर और सृष्टी जैन के भजनों ने माहौल को भक्तिमय बना दिया।

पुस्तकालय स्थापना दिवस और श्रुतपंचमी पर्व

दिनांक ६ जून २०११ को तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ.प्र., के तत्वाधान में श्रुतपंचमी पर्व एवं शोध-पुस्तकालय स्थापना दिवस के उपलक्ष में पुस्तकालय परिसर में मुन्नेलाल कागजी धर्मशाला, चारबाग, लखनऊ में श्रुतदेवी की वंदना हेतु सभा का आयोजन किया गया।

षट्खण्डागम शास्त्र की स्थापना के बाद श्री महेन्द्र प्रसाद जैन द्वारा मंगलाचरण किया गया। समिति के महामंत्री श्री नलिन कान्त जैन ने इस दिवस के महत्व पर प्रकाश डालते हुये बताया कि **षट्खण्डागम** ग्रन्थ को ताड़पत्र पर लिपिबद्ध कराकर चतुर्विध संघ ने ७५ ई. की ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी को उसकी पूजा की थी। तभी से पुस्तक दान तथा पुस्तकालय स्थापना के लिए जैन परम्परा में इस दिवस का विशेष महत्व है। तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति के शोध पुस्तकालय की स्थापना १९७६

ई. में श्रुतपंचमी के दिन ही की गई थी। यह पुस्तकालय लखनऊ में जैन धर्म और साहित्य से सम्बन्धित एक व्यवस्थित पुस्तकालय के अभाव की पूर्ति करता है। पुस्तकालय में जैन धर्म की सभी आम्नायों के मूल ग्रन्थ और उन पर हुई शोध से सम्बन्धित साहित्य का संग्रह है। इसके साथ ही भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित साहित्य भी उपलब्ध है ताकि तुलनात्मक अध्ययन किया जा सके। लखनऊ और कानपुर विश्वविद्यालय के शोध छात्रों द्वारा इस पुस्तकालय का उपयोग किया जा रहा है और अन्य जिज्ञासु विद्वान भी इससे लाभान्वित होते हैं।

डॉ. शशि कान्त, श्री धनेन्द्र कुमार जैन, श्री अंशु जैन 'अमर' और श्री दिनेश चंद्र जैन ने भी श्रुतपंचमी के महत्व पर प्रकाश डाला। श्री दिनेश चंद्र जैन ने अपने भजन 'ऐ शारदे मां, अज्ञानता से हमें तार देना' और श्री लूणकरण नाहर ने अपने भजन 'वीर प्रभु का शासन प्यारा' और 'उठ जाग मेरे चैतन्य प्रभु, तू अजर अमर अविनासी है' से वातावरण को रससिक्त किया। अध्यक्षता श्री लूणकरण नाहर जैन ने की। अंत में जिनवाणी की स्तुति से कार्यक्रम का समापन हुआ।

वीर शासन जयन्ती

वीर सेवा मंदिर - जैनदर्शन शोध संस्थान, दरियागंज, **नई दिल्ली,** ज्ञान एवं शोध का कल्पवृक्ष बनकर विगत ८१ वर्षों से अपने समृद्ध पुस्तकालय के माध्यम से श्रुत-सेवा के लिए संकल्पित है। इस वर्ष १७ जुलाई २०११ को वीर शासन जयन्ती के पावन प्रसंग पर एक राष्ट्रीय व्याख्यानमाला का भव्य आयोजन हुआ। अध्यक्षता प्रो. समणी चारित्र प्रज्ञा जी, कुलपति, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ (राज.) ने की। शुभारंभ प्रो. कमलेश कुमार जैन, बी.एच.यू., वाराणसी, के मंगलाचरण से हुआ।

लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली के प्राकृत विभागाध्यक्ष प्रो. डॉ. सुदीप जैन, अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय वर्धा के प्रो. एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के परामर्श प्रमुख प्रो. वृषभप्रसाद जैन, बी.एच.यू. के जैन बौद्ध दर्शन विभाग के विभागाध्यक्ष प्रो. कमलेश कुमार जैन, उपसाला विश्वविद्यालय (स्वीडन) में प्रो. हैन्ज वैसलर, गौतम बुद्ध विश्वविद्यालय के असि. प्रो. डॉ. नवरस जाट अफरीदी, मुख्य अतिथि डॉ. श्रेयांस कुमार (प्रो., दि. जैन संस्कृत कालेज, बड़ौत, एवं अध्यक्ष, अ. भा. दि. जैन शास्त्री परिषद्) और व्याख्यानमाला के संचालक डॉ. जयकुमार जैन (अध्यक्ष, अ.भा. दि. जैन विद्वतपरिषद) का स्वागत शाल, बैग और खण्डवस्त्र प्रदान

कर एवं तिलक लगाकर किया गया। संस्थान के महामंत्री श्री विनोद कुमार जैन ने अपने स्वागत भाषण में आगत सभी मनीषियों का वीर सेवा मंदिर समिति की ओर से स्वागत/अभिनंदन किया। वीर सेवा मंदिर के अध्यक्ष श्री सुभाष जैन ने संस्थान का परिचय देते हुए बताया कि वर्तमान में संस्थान के पुस्तकालय में ७ हजार से अधिक ग्रंथ एवं १६७ हस्तलिखित ग्रंथ मौजूद हैं, साथ ही ५० से अधिक ग्रंथों का यह अभी तक प्रकाशन कर चुका है। आपने शोध संस्थान के संस्थापक विद्या के महार्णव पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार साहब का भी स्मरण किया।

प्रथम प्रमुख वक्ता के रूप में प्रो. कमलेश कुमार जैन ने वीर शासन जयन्ती क्या है और यह श्रावण कृष्ण एकम् को क्यों मनाई जाती है, की पौराणिक आख्यान के आधार पर चर्चा की और सुझाव दिया कि प्राकृत गाथानुक्रमणिका का संवर्द्धित/संशोधित संस्करण पुनः प्रकाशित होना चाहिए। अनुपलब्ध आगम ग्रंन्थों के प्रकाशन पर भी जोर दिया।

प्रो. सुदीप जैन ने प्राकृत भाषा के विकास (**षट्खण्डागम** के विशिष्ट परिप्रेक्ष्य में) पर प्रकाश डालते हुए कहा कि प्राकृत भाषा कालगत भाषा है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि प्राकृत ग्रंथों की संस्कृत छाया करने से प्राकृत भाषा का भला नहीं हो सकता। होना यह चाहिए कि संस्कृत ग्रन्थों की प्राकृत छाया हो।

प्रो. वृषभप्रसाद जैन ने श्रमण और वैदिक परम्परा का उल्लेख करते हुए कहा कि दोनों परम्पराओं ने अपनी-अपनी भाषा के विज्ञान को विकसित किया है और एक परम्परा ने दूसरे की परम्परा को (खासकर भाषा के क्षेत्र में) देखना प्रायः बन्द कर दिया है। संस्कृत को अपेक्षाकृत ज्यादा महत्व दिया गया और पालि/प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा के साथ अछूत की तरह व्यवहार किया गया। प्राकृत जैनों की पहचान-भाषा हो सकती है।

प्रो. हैन्ज वैसलर ने भी हिन्दी में संक्षिप्त भाषण दिया और कहा कि मनुष्य चाहे तो हर भाषा को सीख सकता है। आप स्वीडन में संस्कृत एवं हिन्दी भाषा के प्रोफेसर हैं।

प्रो. श्रेयांस कुमार जैन ने वीर शासन जयन्ती की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए कहा कि हमें आगम शास्त्र के अनुसार ही अपना मत बनाकर व्याख्यान करना चाहिए। ऐसा न करके कुछ लोग अपने मत के अनुसार शास्त्रों को टटोलकर आधी-अधूरी बात उसमें से निकालकर प्रस्तुत करते रहे हैं।

अध्यक्ष समणी प्रो. चारित्र प्रज्ञा जी ने अपने मार्मिक व्याख्यान में कहा कि हमें अपने मनभेद और मतभेद दोनों को, समन्वय बिन्दुओं पर स्वीकृति देते हुए, दूर करना चाहिए। आज विश्व को यह पूरी तरह आश्वस्त करना है कि जैनधर्म एक स्वतंत्र धर्म है, न तो यह हिन्दू धर्म की शाखा है और ना ही बौद्धधर्म का अपर रूप है। जहाँ नय निक्षेप है वहां अनेकान्त है और जहां अनेकान्त है वहां फिर कोई आग्रह नहीं है। पुस्तकालयों के ग्रंथ केवल प्रदर्शन की वस्तु न रह जावें बल्कि वे ज्ञान प्रकाश का माध्यम बनें। संकल्प करें कि हम स्वाध्याय करेंगे।

आभार प्रदर्शन संस्थान के मंत्री श्री योगेश जैन ने किया और बताया कि संस्थान समय-समय पर इस प्रकार की गौरवपूर्ण व्याख्यान मालाओं का आयोजन करके ज्ञान की धारा को प्रवर्तमान किये हुए है। सभा का विसर्जन जिनवाणी स्तुति 'वीर हिमाचल ते निकसी' से हुआ।

जैन मिलन, लखनऊ

उ. प्र. जैन विद्या शोध संस्थान एवं जैन मिलन लखनऊ द्वारा आयोजित वीर शासन जयन्ती समारोह का आयोजन उ. प्र. संगीत नाटक अकादमी, विपिन खंड, गोमती नगर, लखनऊ में किया गया। मुख्य अतिथि श्री डी. पी. सिंह, उप सचिव, संस्कृति विभाग, उ. प्र. शासन थे। वीर राजेन्द्र कुमार जैन, कार्यकारी अध्यक्ष (उत्तर), भारतीय जैन मिलन, ने अध्यक्षता की। विशिष्ट अतिथि डॉ. पीयूष भार्गव, रीडर, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग, लखनऊ वि. वि., ने जैन कला पर सचित्र व्याख्यान दिया। मुख्य वक्ता वीरां डॉ. अल्पना जैन 'अभि' ने वीर शासन जयन्ती के महत्व पर प्रकाश डाला। लाला मुन्नेलाल कागजी ट्रस्ट की ओर से वीर राकेश जैन, चौक, को लाइफ टाइम एचीवमेंट एवार्ड २०११ प्रदान किया गया। श्री नलिन कान्त जैन, अध्यक्ष, जैन मिलन, ने समागत विद्वानों और श्रोताओं का स्वागत किया। डॉ. योगेन्द्र सिंह, निदेशक, उ. प्र. जैन विद्या शोध संस्थान, ने आभार ज्ञापन किया।

– अंशु जैन 'अमर'

साहित्य सत्कार

साहित्य मनीषी की कीर्ति स्मृतियां (डॉ. पं. दयाचंद साहित्याचार्य स्मृति ग्रन्थ): संपादक पं. शिखरचंद जैन साहित्याचार्य, प्र. श्री गणेश दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर और श्री दिगम्बर जैन पंचायत सभा, सागर; २००८; पृष्ठ ६६५ सचित्र

डॉ. पं. दयाचंद जैन साहित्याचार्य का जन्म ११ अगस्त १९१५ को शाहपुर मगरौन, जिला सागर, में हुआ था। धार्मिक एवं संस्कृत साहित्य की शिक्षा उन्होंने श्री गणेश दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर, में प्राप्त की और साहित्याचार्य एवं सिद्धान्त शास्त्री की परिक्षाएं उत्तीर्ण कीं। १९९० में **जैन पूजा काव्य** विषय पर सागर विश्वविद्यालय द्वारा उन्हें पी-एच.डी. की उपाधि प्रदान की गई। उनका विवाह १९४० में श्रीमती ललिताबाई से हुआ था। उनकी पांच पुत्रियां हैं, जिनमें सबसे छोटी पुत्री ब्र. किरण जैन, एम.ए., सिद्धान्त शास्त्री, अपनी माता के स्वर्गवास के बाद अपने पिता जी की सेवा-सुश्रुषा करती रहीं। पं. जी का देहावसान ९१ वर्ष की आयु में १२/२/२००६ को हो गया। पं. जी ने १९५१ से २००५ तक श्री गणेश दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर, में एक सफल कर्मठ अध्यापक से लेकर प्राचार्य पद तक की महनीय सेवाएं सम्पन्न कीं। वर्ष २००१ में उन्हें रु. ५१०००/- की नगद राशि से और 'विद्वत् रत्न' की मानद उपाधि से सम्मानित किया गया, तथा उस वर्ष से पं. जी ने अपने वेतन का त्याग कर आजीवन निःशुल्क सेवा करने का संकल्प लिया।

प्रस्तुत ग्रन्थ डॉ. पं. दयाचंद जी की स्मृति में प्रकाशित किया गया है। इसमें पांच खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में साधु-सन्तों के आशीर्वाद एवं शुभकामनाएं, विद्वत जनों की शुभकामनाएं एवं विनयांजलि तथा कवियों की काव्यांजलि संकलित हैं।

द्वितीय खण्ड में उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में उनके विद्वान मित्रों के संस्मरणात्मक लेख हैं।

तृतीय खण्ड में उनकी लेखनी से निसृत ५१ लेखों का संकलन है। उनके २३ संस्कृत निबन्ध और १३ संस्कृत काव्य भी इसमें संकलित हैं। उनके द्वारा लिखे गये अनुपलब्ध लेखों की सूची भी दी गई है तथा उनके द्वारा लिखी गयी ८ पुस्तकों का नामोल्लेख किया गया है।

चतुर्थ खण्ड में पूज्य मुनिश्री एवं विद्वत् मण्डल के २८ आगम सम्मत् लेखों का संकलन है।

पांचवें खण्ड में २०वीं सदी के ८ दिगम्बर विद्वानों का जीवन परिचय संकलित है, जिनमें पं. जी के पिता पं. भगवान दास जी, और भाई पं. माणिक्य चंद जी व पं. श्रुत-सागर जी के अतिरिक्त पं. दयाचंद न्यायतीर्थ, पं. ताराचंद सर्राफ, पं. पन्नालाल, पं. धरमचंद शास्त्री और पं. फूलचन्द जैन 'पुष्पेन्दु' खुरई का परिचय दिया गया है।

पं. जी के जीवन और उनके परिवार से सम्बन्धित चित्रावलि भी इसमें समाहित है। स्मृति ग्रन्थ का संयोजन इस प्रकार किया गया है कि इससे डॉ. पं. दयाचन्द जी के जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व का एक परिचय प्रामाणिकता के आधार पर प्राप्त होता है। इसका प्रबन्ध सम्पादन उनकी कनिष्ठ पुत्री ब्र. किरण जैन द्वारा किया गया है, और उन्हीं के सौजन्य से यह ग्रन्थ तथा उनके शोध प्रबन्ध की प्रति हमें उपलब्ध हुई है जिसके लिए हम उनके आभारी हैं।

जैन पूजा काव्यः एक चिन्तनः ले. डॉ. दयाचंद जैन साहित्याचार्य; प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, १८, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोधी रोड, नई दिल्ली-११०००३; २००३, पृ. ४०१; मूल्य १८०/-

१९९० में यह ग्रन्थ डॉ. हरिसिंह गौड़ विश्वविद्यालय, सागर, में पी-एच.डी.की उपाधि के लिए शोध-प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत और स्वीकृत किया गया था। इसमें ९ अध्यायों में क्रमशः जैन पूजा काव्य का उद्भव और विकास, जैन पूजा काव्य के विविध रूप, संस्कृत और प्राकृत जैन पूजा काव्यों में छन्द-रस-अलंकार, हिन्दी जैन पूजा काव्यों में छन्द-रस-अलंकार, जैन पूजा में रत्नत्रय, संस्कार, पर्व तथा तीर्थक्षेत्र, और जैन पूजा काव्यों का महत्व, विषयों का विवेचन किया गया है। परिशिष्टों में संस्कृत जैन पूजा काव्यों और हिन्दी जैन पूजा काव्यों की सूची दी गई है, तथा संदर्भ ग्रन्थों की सूची भी दी गई है। अंत में जैन पूजा काव्य में मण्डल रचना का मूल्यांकन भी किया गया है।

जैन पूजा काव्य के अध्ययन के लिए यह ग्रन्थ विशेष रूप से उपयोगी है। इस प्रकार का समग्र ग्रन्थ जिसमें सिद्धान्त और व्यवहार की दृष्टि से भी विभिन्न विषयों का विवेचन किया गया हो, और अधुनाज्ञात सभी पूजा काव्यों का सूचीकरण किया गया हो, अन्यत्र उपलब्ध नही है।

जैन श्वेताम्बर गच्छों का संक्षिप्त इतिहास : खण्ड १ व २; ले. डॉ. शिव प्रसाद; प्र. आ. ऊँकारसूरि ज्ञानमंदिर, सुभाष चौक, गोपीपुरा, सूरत -३६५००१; पृ. १३६५; मूल्य -२००/-,२००/-

डॉ. शिव प्रसाद ने जैन श्वेताम्बर गच्छों के इतिहास पर विशद कार्य किया है। उनके कुछ लेख इस विषय पर **शोधादर्श** में भी प्रकाशित हुये हैं। पी-एच.डी. के लिए अपना शोध-प्रबन्ध भी उन्होंने इसी विषय पर प्रस्तुत किया था। कुछ गच्छों यथा तपा गच्छ और अचल गच्छ, के इतिहास पर उनके स्वतंत्र ग्रन्थ भी हैं। इन दो भागों में उन्होंने जैन श्वेताम्बर गच्छों का प्रायः सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है। अपनी भूमिका में लेखक ने सूचित किया है कि खरतर गच्छ, अचल गच्छ, तपा गच्छ और पार्श्वचन्द्र गच्छ को छोड़कर सभी गच्छ नामशेष हो चुके हैं। खरतरगच्छ, अचलगच्छ और तपा गच्छ के विषय में इस पुस्तक में कोई चर्चा नहीं की गई है क्योंकि उन पर स्वतंत्र पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

सा. वा. महोपाध्याय विनयसागर की भूमिका में इस पुस्तक में प्रस्तुत विषय का संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

अध्याय-१ में गच्छों के इतिहास के मूल स्त्रोत, अध्याय-२ में श्वेताम्बर श्रमण संघ का प्रारम्भिक स्वरूप, अध्याय-३ में श्वेताम्बर सम्प्रदाय के संघों का सामान्य परिचय तथा अध्याय ४ में ३६ श्वेताम्बर गच्छों का संक्षिप्त इतिहास दिया गया है। अंत में विस्तृत संदर्भ सूची दी गई है जिसमें आगमिक, अंग ब्राह्य और अन्य प्राचीन जैन साहित्य, ग्रन्थ भण्डार-सूचीपत्र, प्रशस्ति संग्रह, पट्टावलियों, जैन अभिलेख साहित्य, आधुनिक ग्रन्थ, स्मारक-अभिनन्दन-स्मृति ग्रन्थ, कोश ग्रन्थ और शोध सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाओं का उल्लेख है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विभिन्न गच्छों के मुनि जनों की गुरु परम्परा तथा उनके कृतित्व का एक स्थान पर संकलित विवरण इस पुस्तक में प्राप्त होता है। इस श्रम-साध्य कार्य को सम्पादित करने के लिए डॉ. शिव प्रसाद साधुवाद के पात्र हैं।

डॉ. सागरमल जैन की कृतियां

१. जैन एकता का प्रश्न : ३२ पृष्ठ की इस पुस्तिका में डॉ. सागरमल जैन ने इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है कि जैन समाज में धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से जो बिखराव है, उससे ऊपर उठकर किस प्रकार सम्पूर्ण जैन समाज को एकता के सूत्र में बांधा जा सकता है। एकता की आवश्यकता

इसलिए है कि पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष एवं प्रतिस्पर्धा में समाज के शक्ति और धन का अपव्यय रोका जा सके और आज की राजनीतिक आवश्यकता के अनुसार मत शक्ति (Vote power) को संगठित किया जा सके। लेखक ने सैद्धान्तिक मतभेदों से ऊपर उठकर एक समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाये जाने का प्रस्ताव किया है। लेखक की विवेचना पर श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों की श्रमण संस्था तथा श्रावक संस्था द्वारा विचार किया जाना अपेक्षित है।

२. **धर्म का मर्मः** ६८ पृष्ठ की इस पुस्तिका में **श्रमण** पत्रिका में प्रकाशित कतिपय लेखों का संकलन है, जिनमें विविध पंहलुओं के आधार पर धर्म के स्वरूप की और धर्म की साधना की विवेचना की गई है। इन लेखों में धार्मिक कदाग्रह के बजाय विभिन्न भारतीय दर्शनों में मानव जीवन को सुखकर बनाने के लिए जो व्यवस्थाएं दी हैं, उनका समग्र दृष्टि से निदर्शन किया गया है।

३. **जैन धर्म की ऐतिहासिक विकास यात्राः** ५३ पृष्ठीय इस पुस्तिका में आदिकाल से लेकर आज तक जैन धर्म की ऐतिहासिक विकास यात्रा का निदर्शन किया गया है। लेखक का यह विचार उचित है कि जैन और बौद्ध धर्म को वैदिक हिन्दू परम्परा का विरोधी चित्रित किया जाना उचित नहीं है, वरन् इन्हें भारतीय संस्कृति के परिष्कार के रूप में समझना उचित होगा।

४. **धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्मः** ३२ पृष्ठीय इस पुस्तिका में डॉ. सागरमल जैन ने यह स्पष्ट किया है कि आज के जीवन में धार्मिक मतान्धता नहीं वरन् धार्मिक सहिष्णुता की आवश्यकता है। जैन धर्म में अनेकांतवाद धार्मिक सहिष्णुता का आधार है। अनेकांतवाद का तात्पर्य यह है कि एक मान्यता पर कदाग्रह न किया जाये वरन् विभिन्न दृष्टिकोणों से सम्यक् विचार किया जाये। जैनाचार्यों तथा वर्तमान में प्रबुद्ध जैन विद्वानों ने उदार और सहिष्णु वृत्ति को निरंतर प्रोत्साहित किया है।

५. **श्रावक धर्म और उसकी प्रासंगिकताः** इस ३२ पृष्ठीय पुस्तिका में डॉ. सागरमल जैन ने गृहस्थ जीवन की आवश्यकता और उपयोगिता का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दृष्टि से विवेचन किया है। यह विवेचन श्रावक-श्राविका के लिए प्रेरक हो सकता है।

६. **अध्यात्मवाद और विज्ञान** : इस ३२ पृष्ठीय पुस्तिका में जैन धर्म के विशेष संदर्भ में अध्यात्मवाद और विज्ञान का विवेचन किया गया है। इस भ्रान्ति का भी निराकरण किया गया है कि जैन धर्म के अनुसार शारीरिक मूल्य अध्यात्म में

बाधक है। वास्तव में यह बाधक नहीं वरन् साधक है क्योंकि मोक्ष का साधन ज्ञान है, ज्ञान का साधन शरीर है और शरीर का साधन आहार है। दो कविताएं **धर्म का धंधा** और **जिन्दगी का फलसफा** भी प्रासंगिक है।

७. जैन धर्म में नारी की भूमिका : इस ४८ पृष्ठीय पुस्तिका में विभिन्न धर्मों और दर्शनों की विवेचना करते हुये लेखक ने यह प्रतिपादित किया है कि विभिन्न धर्मों की अपेक्षा जैन धर्म का दृष्टिकोण नारी के प्रति अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक एवं उदार है।

८. अहिंसा की प्रासंगिकता : इस ६४ पृष्ठीय पुस्तिका में ६ अध्यायों में विषय का विवेचन किया गया है - अहिंसा की सार्वभौमिकता, अंहिसा का अर्थ विस्तार और उसके विविध आयाम, भारतीय धर्मों में अहिंसा का स्थान, हिंसा-अहिंसा विवेक, अहिंसा के आदर्श की उपलब्धि की सम्भावनाएं, सकारात्मक अहिंसा, सकारात्मक अहिंसा और सामाजिक जीवन, पर्यावरण प्रदूषण की समस्या और अहिंसा, तथा अहिंसा और शाकाहार। लेखक ने अहिंसा की व्यावहारिकता के सम्बन्ध में इस पुस्तिका में सकारात्मक एवं युक्ति-युक्त विवेचना की है जो इस दिशा में चिंतन के लिए प्रेरित करती है।

डॉ. सागरमल जैन की उपरोक्त आठों पुस्तिकाएं प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड, शाजापुर- ४६५००१ से प्रकाशित हैं। पुस्तिका के रूप में उनका प्रकाशन कर डॉ. सागरमल जैन ने पाठकों के लिए अपने विचारों को सुलभ कराया है, इसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं।

डॉ. परमानन्द जड़िया की कृतियां

१. मेरा कुछ न, तुम्हारा कण-कण : अपने आत्म कथन में डॉ. जड़िया ने यह उचित ही निवेदन किया है कि इस काव्य ग्रन्थ में उन्होंने जीवात्मा की ग्लानि, प्रभु के प्रति समर्पण की भावना, दैन्य निवेदन, प्रभु की सर्वज्ञता, समय का दुःख दर्द, स्वदेश प्रेम, राष्ट्रभाषा हिन्दी, संसार से मुक्ति पाने की कामना, आदि विषयों पर अपनी मनोभावना व्यक्त की है। भाग-१ में २० भक्ति परक रचनाएं हैं और भाग-२ में ४१ अन्य रचनाएं हैं जिनमें देश प्रेम और हिन्दी भाषा के प्रेम को लक्षित करते हुये रचनाओं के अतिरिक्त कुछ आत्म निवेदन से सम्बन्धित रचनायें भी हैं, यथा, "लिया बहुत मैने इस जग से पर कुछ दिया नहीं।"

२. कृष्ण सुदामा : कृष्ण सुदामा से सम्बन्धित इस लघु प्रबन्ध काव्य में डॉ.

जड़िया ने लीक से हटकर सुदामा के चरित्र को चित्रित किया है। अपनी प्रस्तावना में उन्होंने स्पष्ट किया है कि "मेरी मान्यता है कि भगवान से कुछ प्राप्त करने हेतु जीव को भगवान के सामने अहंकार मुक्त हो कर जाना चाहिये। तभी कुछ प्राप्त होता है। मेरी दृष्टि में सुदामा गृहस्थ होने के नाते अपने कर्तव्य से विमुख थे। वे भगवान कृष्ण की प्रेम भक्ति से भिन्न उद्धव की भांति योग साधना में लगे हुये थे। उनकी पत्नी गोपियों की भांति उन्हें सजग करती है। वह कर्तव्य-निष्ठ नारी थी और भगवान की वास्तविक भक्त भी।"

कृष्ण सुदामा का कथानक मित्रता के एक ऐसे आदर्श उदाहरण को प्रस्तुत करता है जिसमें धन और ऐश्वर्य मित्रता के आत्मीय भाव को प्रभावित नहीं करते हैं। यह एक ऐसा कथानक है जिसने लोक संस्कृति को प्रभावित किया है और इस बात की प्रेरणा दी है कि यदि एक मित्र साधन सम्पन्न है तो उसे सहृदयता पूर्वक विपन्न मित्र की सहायता करनी चाहिए। कृष्ण सुदामा की यह कथा जिस शिक्षा को चरितार्थ करती है उसे कवि ने निम्नलिखित छन्द में निदर्शित किया है :

पर धन पाकर भूलें न कभी
हम अपने मिलने वालों को।
मद मोह लोभ से बचे रहें
फोड़े न किसी के छालों को।।

उपरोक्त दोनों कृतियां मधूलिका प्रकाशन, १८६/५१ खत्री टोला, मशकगंज, लखनऊ-२२६०१८ से क्रमशः मार्च २०११ और जुलाई २०११ में प्रकाशित हुईं।

जीवन है अनमोल : संकलनकर्ता डॉ. चंचलमल चोरड़िया; प्र. कल्याणमल चंचलमल चोरड़िया ट्रस्ट, जालोरी गेट के बाहर, गोल बिल्डिंग रोड, जोधपुर ३४२००३; पृ. ६४; दूसरा संस्करण अप्रैल २०११; मूल्य २०/-

इस पुस्तक में डॉ. चोरड़िया ने १२२ भक्तिपरक कविताओं का संकलन किया है। ये कविता, गीत और पद विभिन्न रचनाकारों की रचनाए हैं। यह उचित होगा कि अगले संस्करण में प्रस्तावना में रचनाकारों का उल्लेख कर दिया जाये जिनकी रचनाएं इस संकलन में संकलित हैं। चयन सुन्दर है।

नयनानंद यति कृत विलास : सं. आदीश्वर प्रसाद जैन, प्र. श्री दिगम्बर जैन समाज, सिकन्दराबाद, जिला-बुलंदशहर

श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मंदिर, सिकन्दराबाद, में शास्त्र भण्डार मे एक

हस्तलिखित ग्रन्थ **श्री नयनानंद यति विलास** संग्रहीत है। श्री हीरालाल जैन बुलंदशहर वालों ने इस ग्रन्थ को संयोजित एवं संपादित किया और सिकन्दराबाद के श्री आदीश्वर प्रसाद जैन ने इसे प्रकाशित किया। इसमें २२३ भजन संग्रहीत है। इसकी रचना १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में नयनानंद यति द्वारा की गई।

विभिन्न शास्त्र भण्डारों में इस प्रकार के हस्तलिखित और भी ग्रन्थ हो सकते हैं, जिनको भी प्रकाश में लाया जाना चाहिए।

देवव्रत : ले. श्री गंगा रत्न पाण्डेय; प्र. अक्षर ब्रह्म प्रकाशन, लखनऊ; वर्ष २०११; पृ. ३५५; मूल्य २५०/-

भारत सरकार के केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय से सेवा निवृत्त पं. गंगा रत्न पाण्डेय (जन्म २७ अप्रैल १९१८) ने आत्म संलाप की विधा में **देवव्रत** के नाम से अपने जीवन के प्रथम ३० वर्षों का आत्म कथ्य प्रस्तुत किया है। अपने पारिवारिक जीवन तथा अपने श्रद्धेय गुरुजनों एवं मित्रों के प्रति जो उद्‌गार प्रकट किये गये हैं वे भावनात्मक स्तर पर पाठक को प्रभावित करते हैं। स्वतंत्रता आन्दोलन से सम्बन्धित जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, वह कांग्रेस के निष्ठावान सदस्य के अनुरूप है। जो घटनाएं स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान घटी, उन पर विश्लेषणात्मक दृष्टि से विवेचन भी अपेक्षित है। गांधी जी 'हे राम' पुकार कर हमेशा के लिए शांत हो गये, ऐसा तत्कालीन भारत सरकार द्वारा प्रचारित किया गया था, परन्तु प्रत्यक्षदर्शी ने इसको नकारा है। तथापि उनके द्वारा दिये गये विवरण में बहुत सी ऐसी बातें भी हैं जो सामान्य रूप से मालूम नहीं होती जैसे कि कैबिनेट मिशन की बैठकों के दौरान मसूरी में सिल्वर्टन होटल में मौलाना अबुल कलाम आजाद और आसफ अली के ठहराये जाने का विवरण।

यह पुस्तक श्री सुरेश कुमार 'आवारा नवीन' के सौजन्य से प्राप्त हुई। इसके लिए हम उनके आभारी है।

विशिष्ट पत्रिकाएं :

जैन तीर्थ वन्दना : भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी, हीराबाग, सी. पी.टैंक, मुम्बई-४००००४, का यह मुख पत्र है। इसका मार्च २०११ का अंक तमिलनाडु में जैन पुरातत्व संपदा से सम्बन्धित ९६ पृष्ठीय सचित्र विशेषांक है। जो सामग्री इसमें दी गई है वह तमिलनाडु में जैन धर्मानुयायियों के भारतीय संस्कृति को योगदान को जानने-समझने के लिए विशेष उपयोगी है। इसके मुख पृष्ठ पर Volume

I, Issue, दिया गया है जो सही नहीं प्रतीत होता, क्योकि यह पत्रिका काफी वर्षो से प्रकाशित हो रही है। अतः यह इस पत्रिका का Volume I किस प्रकार है, यह स्पष्ट नहीं है।

स्थूलिभद्र संदेश : वर्ष १५ अंक ७, जुलाई २०११, श्री हरखचंद नाहटा की स्मृति में हीरक जयंती विशेषांक के रूप में प्रकाशित है। श्री नाहटा का जन्म बीकानेर में १८ जुलाई १९३६ को हुआ था और एक सफल जीवन जीने के पश्चात् उनका निधन नई दिल्ली में २१ फरवरी १९९९ को हुआ। श्री नाहटा के अतिरिक्त इस अंक में डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी स्मृति ग्रन्थ **दृष्टि में सृष्टि** का परिचय भी दिया गया है और डॉ. दौलतसिंह कोठारी का परिचय भी दिया गया है। डॉ. कोठारी (६-७-१९०६ से ४-२-१९९३) की स्मृति में ६ जुलाई २०११ को भारत सरकार द्वारा रु. ५/- का डाक टिकट जारी किया गया था।

धर्ममंगल : जून-जुलाई २०११ सयुक्तांक 'धर्म मंथन (५वीं किस्त)' के रूप में प्रकाशित हुआ है। इसमे २००१ से २०११ तक मुनिचर्या में शिथिलाचार्य विषयक संपादिका श्रीमती लीलावती जैन के ३७ लेखों का संग्रह है।

- डॉ. शशि कान्त

अभिनन्दन

श्रीमती श्वेता जैन को 'जैन दर्शन में कारण-कार्यवाद - एक समीक्षात्मक अध्ययन' पर और श्री योगेश कुमार जैन को 'जैन न्याय को आचार्य प्रभाचन्द्र का योगदान' पर जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाड़नूं, द्वारा पी-एच. डी. की उपाधि प्रदान की गई।

डॉ. गोकुल चन्द्र जैन, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के श्रमण विद्या संकाय के पूर्व संकायाध्यक्ष, को प्राकृत भाषा के अध्ययन में विशिष्ट योगदान हेतु वर्ष २००८ का राष्ट्रपति पुरस्कार एवं सम्मान प्रदान किया गया।

छतरपुर की ७८ वर्षीय डॉ. (श्रीमती) रमा जैन को उनकी कृति 'परिनिष्ठित बुन्देली का व्याकरणिक अध्ययन' पर भारत भवन, भोपाल, में 'पवैया कृति सम्मान' से सम्मानित किया गया।

अहमदाबाद से प्रकाशित **'जिनेन्दु'** (साप्ताहिक) के संस्थापक सम्पादक ८२ वर्षीय श्री जिनेन्द्र कुमार जैन को अमेरिकन बायोग्रफिकल सोसायटी द्वारा 'अल्बर्ट आइन्स्टीन अवार्ड ऑफ एक्सीलेंस-२०११' के लिये चयनित किया गया।

डॉ. भाग चन्द्र जैन 'भास्कर' ने जयपुर के श्री रामानन्दाचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय

में आचार्य ज्ञानसागर जैनदर्शन पीठ में पद भार ग्रहण किया।

जैन पत्र सम्पादक संघ के श्री सम्मेद शिखर जी में सम्पन्न तृतीय राष्ट्रीय अधिवेशन में दिनांक १४ जुलाई को सर्व सम्मति से डॉ. चीरंजीलाल बगड़ा (सं., **दिशाबोध**, कोलकाता) को अध्यक्ष और श्री अखिल बंसल (सं., **समन्वय वाणी**, जयपुर) को महामंत्री निर्वाचत किया गया।

डॉ. शशि कान्त की पौत्री (चि. राजीव कान्त जैन और सौ. मधु जैन की सुपुत्री) आयु. तन्वी जैन ने चिकित्सा शिक्षा प्रवेश हेतु JIPMER (जवाहरलाल नेहरु इन्स्टीट्यूट ऑफ पोस्ट ग्रेजुएट मेडिकल एजुकेशन एण्ड रिसर्च), पुडुचेरी, द्वारा अयोजित अखिल भारतीय प्रतियोगितात्मक परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया।

उपरोक्त सभी महानुभावों का उनकी यश वृद्धि के लिये **शोधादर्श** परिवार अभिनन्दन करता है।

शोक संवेदन

जयपुर में ७ मई २०११ को श्री ज्ञानचन्द खिन्दूका का निधन हो गया। श्री खिन्दूका का जन्म १७-६-१६२५ को हुआ था। एक सफल रत्न व्यवसायी होने के साथ ही उनका १६५० से ही सामाजिक गतिविधियों में सक्रिय योगदान था और विभिन्न संस्थाओं से वह जुड़े थे। नैष्ठिक श्रावक होते हुये सामाजिक समस्याओं पर उनका दृष्टिकोण उदारवादी था। वह **शोधादर्श** के अजीवन अभिदाता और प्रशंसक पाठक थे।

मेरठ में २ जून को ८८ वर्षीय श्री कस्तूरचन्द्र जैन का निधन हो गया। सेवा काल में वह जहाँ भी रहे, उन्होंने जैन समुदाय को संगठित करने का प्रयास किया। सेवानिवृत्ति के बाद वह मेरठ में ही रहे।

आगरा में १६ जून को श्री सुरेशचन्द्र बारोलिया का निधन हो गया। वह एक जागरूक पत्रकार थे।

एटा में २२ जून को **करुणादीप** (पाक्षिक) के सम्पादक श्री प्रदीप कुमार जैन का ५५ वर्ष की अल्पायु में आकस्मिक निधन हो गया।

उपरोक्त सभी महानुभावों के प्रति **शोधादर्श** परिवार अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है, दिवंगत आत्माओं की चिरशांति और सद्गति के लिये प्रार्थना करता है और शोक संतप्त परिवारजनों एवं मित्र वर्ग के प्रति हार्दिक संवेदना व्यक्त करता है।

- सम्पादक मण्डल

पाठकों के पत्र

श्री अमरनाथ, लखनऊ -

शोधादर्श ७२ मिला। 'भगवान महावीर की जन्म भूमि' एक शोध परक लेख है। जैन धर्म के सर्वमान्य ग्रन्थ **समणसुत्तं** के बारे में और विस्तृत जानकारी की अपेक्षा है ताकि अजैन पाठक भी इस ग्रन्थ के बारे में जान सकें। डॉ. ज्योति प्रसाद जैन का 'जय महावीर नमो' कीर्तन मन को भाया। डा. परमानन्द जड़िया की रचना 'परिवेश' अच्छी लगी। कुल मिलाकर **शोधादर्श** गागर में सागर है।

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव, भिलाई -

शोधादर्श-७२ की प्रति उपलब्ध कराने हेतु हार्दिक धन्यवाद। गुरुगुण-कीर्तन स्तंभ के अन्तर्गत कविवर बनारसीदास के व्यक्तित्व और कृतित्व पर ज्ञानवर्द्धक और रोचक प्रकाश डाला गया है। उनका जीवन और अधिकांश रचना-संसार केवल जैन धर्म तक सीमित नहीं रहा अपितु कबीरवत् सर्वसामान्य के लिए मननीय और अनुकरणीय था। वस्तुतः वे एक सज्जन, सुकवि और समाज-सचेतक थे। श्रीमती शेफाली मित्तल का आलेख 'चमत्कारी गुरु' जागरूकता का पथ प्रशस्त करने वाला, उपयोगी सीख देने वाला और सन्मार्ग-सूचक है।

इस अंक का महत्वपूर्ण अंग है **'समणसुत्तं'** क्योंकि यह जैन धर्म के दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों आम्नायों के बीच विचार साम्य की प्रतिष्ठा के सदुद्देश्य के निमित्त है ताकि दोनों के विचार वैभिन्य की कटुता को कम किया जा सके और साम्य के माध्यम से एकता की स्थापना संभव हो सके। धार्मिक सहिष्णुता, सामाजिक एकता की आधारशिला होती है। **समणसुत्तं** के सत्प्रयास की जितनी प्रशंसा की जाये कम है। पाठकों को ऐसी महनीय कृति की जानकारी देने के लिए **शोधादर्श** के सम्पादक-मण्डल को भूरिशः बधाई!

कुल मिलाकर **शोधादर्श** का यह अंक अत्यंत ज्ञानवर्धक बन पड़ा है, एतदर्थ साधुवाद।

डॉ. ऋषभचन्द्र जैन, वैशाली -

शोधादर्श के अंक ७२ में आपने आवरण पृष्ठ पर भगवान महावीर की जन्मभूमि वैशाली में संकल्पित निर्माणाधीन मंदिर का चित्र छापकर भगवान महावीर की जन्मभूमि वासोकुण्ड, वैशाली के प्रति अपनी गहन आस्था व्यक्त की है।

श्री कैलाशनारायण टण्डन, कानपुर -

'चमत्कारी गुरु' में धर्म के नाम से व्यवसाय कर रहे ढोंगियों का सटीक चित्रण किया गया है। अन्य सामग्री भी चिन्तन को प्रेरित करती है।

डॉ. परमानन्द जड़िया, लखनऊ -

नयनाभिराम मुख पृष्ठ से मण्डित **शोधादर्श ७२** (मार्च २०११) की प्रति देखने को मिली। कविवर श्री बनारसीदास का जीवनवृत्त रोचक है, खोज पूर्ण है। तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था पर उनका यह कथन सर्वथा सही बैठता है -

बहुत पढ़ै बामन अरू भाट, बनिक पुत्र तो बैठे हाट।
बहुत पढ़ै सो मांगे भीख, मानहु पूत बड़े की सीख।।

साहित्य सत्कार में डॉ. शशि कान्त का श्रम सराहनीय है। श्री अंशु जैन 'अमर' ने अपने पिता स्वनाम धन्य रमा कान्त का श्रद्धा पूर्वक स्मरण कर पुत्र धर्म का निर्वाह किया है। श्री अमरनाथ ने अपनी कविता में ठीक ही कहा है -

किसी इन्सान को ईश्वर, यहाँ सब कुछ नहीं देता।

श्रीमती शेफाली मित्तल का लेख 'चमत्कारी गुरु' निश्चित रूप से ऐसे साधुओं के जीवन का दर्पण है जो सबसे कहते हैं - 'क्या लाये थे और क्या ले जाओगे', परन्तु स्वयं दोनों हाथों से सम्पत्ति बटोरने में लगे हैं। इनसे दूर ही रहना श्रेयस्कर है।

वैद्य प्रकाश चन्द्र जैन पांड्या का लेख 'ईश्वर विज्ञान और भारतीय जैन मान्यता' को पढ़कर यह सोचना पड़ता है कि ईश्वरीय सत्ता को नकारने वाले विज्ञानवादियों ने संसार को क्या दिया है - व्यक्तिवाद, पर्यावरण प्रदूषण, ध्वंसकारी यंत्र, अलगाववाद, जबकि ईश्वरीय सत्ता में विश्वास करने वाले एकात्मवादी जीव हिंसा से विरत रहने का उपदेश करते हैं, 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' का मंत्र जपते हैं। पाण्ड्या जी ठीक ही कहते हैं कि भारतीय मान्यता के अनुसार यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्ममय है। विज्ञान ने सुख सुविधा के साधन तो जुटा दिये परन्तु शान्ति का मार्ग नहीं खोज पाया।

कुल मिलाकर अंक में पठनीय और मननीय सामग्री है। सम्पादक-मण्डल को साधुवाद!

श्री प्रेम कुमार जैन, विदिशा -

कविवर श्री बनारसीदास जी पर वृहद विवरण पढ़कर उनके बारे में काफी जानकारी मिली। वह जैन जगत के उच्च कोटि के विद्वान रहे।

डॉ. प्रेम सुमन जैन का 'नित्य प्राकृत सामायिक पाठ' प्रत्येक जैन के लिये परम आवश्यक है। इसमें जैनत्व का महत्वपूर्ण सारगर्भित विवेचन है। हमारे जैन भाई इसको नित्य नियम दिनचर्या में लावें तो जीवन का भटकाव समाप्त हो जावेगा।

वैद्य प्रकाशचन्द्र जैन का लेख 'ईश्वर विज्ञान और भारतीय जैन मान्यता' पठनीय एवं सारगर्भित है। आपके लेखकों को साधुवाद!

डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल, अमलाई -

शोधादर्श-७२, मार्च २०११ अंक, एक नये परिवेश में है। सम्पादकीय, मुख पृष्ठ पर निर्माणाधीन मंदिर का चित्र, श्री अजित प्रसाद जी का आलेख 'भ. महावीर की जन्मभूमि' एवं डॉ. ज्योति प्रसाद जी की कविता, 'जय महावीर नमो', सभी मिला कर महावीर की जन्मभूमि की प्रामाणिकता को समर्पित है।

जैन गीता के रूप में **समणसुत्तं** के उदय की कथा। उसकी डॉ. शशि कान्त जी की समीक्षा तथा डॉ. सागरमल जैन का आलेख Some reflection on the Samana Suttam दिशाबोधक व प्रेरक हैं। भूदान प्रणेता आचार्य विनोवा भावे की जैन धर्म के प्रति रुझान और **समणसुत्तं** की परिकल्पना व प्रेरणा सामयिक और नमनीय है। ब्र. जिनेन्द्र वर्णी जी की श्रम साधना फलीभूत हुई। दो हजार वर्षों के पंथ भेद के पश्चात् कदाचित् यह प्रथम अवसर है जब दिगम्बर और श्वेताम्बर पंथ के अनुयायियों ने एक साथ बैठ कर सद्भावना पूर्वक **समणसुत्तं** पर सहमति व्यक्त कर उदारता का परिचय दिया। अन्य क्षेत्रों, यथा, केशरिया जी मंदिर व्यवस्था जैसे जटिल प्रकरणों में भी ऐसी ही उदारता और दूरदर्शिता दिखाना समय की पुकार है। डॉ. प्रेम सुमन जैन ने **समणसुत्तं** पर आधारित नित्य प्राकृत पाठ सार्थ प्रस्तुत कर उल्लेखनीय कार्य किया है। सर्व समाज से अपेक्षा है कि वे इसका पाठ करेंगे और इसे जीवन का अंग बनाएंगे जो जैन एकता का प्रतीक बनेगा।

डॉ. (श्रीमती) दीपा जैन का शोध-सारांश 'गुणस्थान का अध्ययन' आध्यात्मिक विकास की १४ स्थितियों का सरल सारग्राही प्रस्तुतिकरण है। आत्मबोध-आत्मानभूति चतुर्थ गुण स्थान में होती है जिसका आधार न्याय नीति, सदाचार, विश्वासपूर्ण जीवन है। अनैतिक व्यक्ति कभी आत्मबोध को प्राप्त नहीं होता। पंचम गुणस्थान में कषायजन्य एक-देश पापों से विरति/त्याग हो कर उच्च नैतिक स्तर पर साधक पहुंचता है। आलेख के अंत में भारतीय दर्शनों का तुलनात्मक सार विचारोत्तेजक और मननीय है। आत्मा से परमात्मा होने की सम्पूर्ण प्रक्रिया १४ गुणस्थानों के क्रमिक स्तर पार करती हुई पूर्ण होती है। उनका ज्ञान होना आवश्यक है।

गुरुगुण-कीर्तन में कविवर श्री बनारसीदास का परिचय प्रेरक और दिशाबोधक है। कविवर बनारसीदास जी का **अर्द्ध कथानक** मानवीय अंतरंग चित्रण एवं तत्कालीन सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियों का दर्पण है। स्व. श्री रमा कान्त जी को सादर नमन। इसी क्रम में उनके सुयोग्य सुपुत्र श्री अंशु जैन 'अमर' का स्मृतिशेष भी पठनीय और अनुकरणीय है। आत्मसाधक और साहित्य साधक का अंतरंग चरित्र कैसा हो, इसका दिशाबोध कराता है। उपलब्धियों की दौड़ में मस्त मानव को

आत्म-संतुष्टि का बोध होना अपेक्षित है। डॉ. ज्योति प्रसाद जी का आलेख 'जैनी अहिंसा' भ्रम निवारण करता है एवं जीवन में अहिंसा को उतारने की दिशा देता है। अहिंसक कायर नहीं होता और जो कायर है वह अहिंसक नहीं होता। गांधी के सत्य के प्रयोग अहिंसा की सामाजिक साधना है। कर्मवीर ही कष्ट सहिष्णु, निष्ठावान, सत्यनिष्ठ और अहिंसा-वीर होते हैं। वे आपत्तियों और विरोधों से घबड़ाते नहीं हैं। स्वार्थ बुद्धि, ईर्ष्या-द्वेष बुद्धि एवं पलायनता की भावना ही हमारी पराधीनता का कारण हुई। अनैतिक आचार भी इसके लिये उत्तरदायी है।

स्थायी स्तंभ - अभिनन्दन, शोक संवेदना, समाचार विविधा, पाठकों के पत्र आदि में सभी सूचना सटीक है।

साहित्य सत्कार के अंतर्गत **दिशाबोध** जनवरी २०११, जैन पत्रकारिता विशेषांक की टिप्पणी, सुझाव आदि सम्पादक की जागरूकता एवं अद्यावत्-ज्ञान की ओर संकेत करते हैं। इसमें **शोधादर्श** का संक्षिप्त मूल्यांकन भी हुआ है जो उसकी स्थापना-विकास एवं वर्तमान स्थिति को दर्शाता है। पत्रकारिता जगत में आयी गिरावट/अवमूल्यन की ओर सम्पादक ने ध्यान आकर्षित किया है।

दिग्विजय पत्रिका ने एक पंथ विशेष की मान्यताओं, उसके विद्वानों, आचार्यों व साधुओं के विरुद्ध अभद्र, असत्य-अशालीन, अवमाननापूर्ण आक्षेप लगाने की परम्परा विकसित की है। आधारहीन कथन, कुतर्क, अपलाप और संस्कृति-विरुद्ध कथनों से सामाजिक विद्वेष की समस्या उत्पन्न हो रही है जिसके आत्मघाती परिणाम भयावह रूप में सम्भाव्य है। यह चिंता का विषय है।

वैद्य राजेश चंद्र जैन, अलीगंज, का पत्र एक चेतावनी के रूप में स्वीकार करना चाहिये। साधु संस्था के विकार घातक हैं।

अध्यक्ष, श्री विचक्षणश्री स्वाध्याय केन्द्र, नई दिल्ली -

आपकी यह पत्रिका सभी आयु वर्ग के लिए महत्वपूर्ण एवम् ज्ञानवर्धक साबित होगी। विभिन्न महत्वपूर्ण तथ्यों पर विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किए गये सन्दर्भों का मनन करके सभी अपने ज्ञान का सम्यक् विस्तार सहजतापूर्वक कर सकेंगे।

श्री संघवी मिठ्ठूलाल डागा, जोधपुर -

सम्पूर्ण भारत में जैन समाज द्वारा प्रकाशित सैकड़ों पत्र-पत्रिकाओं में से यदि २०-२५ सर्वश्रेष्ठ पत्रिकाओं का चयन किया जाय तो मुझे विश्वास है कि इसमें एक पत्रिका **शोधादर्श** अवश्य होगी। जैन धर्म के विद्वानों और शोधार्थियों के लिये तो यह ज्ञान का सागर है।

अम्बिका (रन्धावा–द्वय की पुस्तक में छपा चित्र)
चित्र सौजन्यः प्रो. जी. सेतुरामन, मदुरै

आवश्यक सूचना

वार्षिक शुल्क ६० रु. (साठ रुपये), 'महामंत्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ. प्र., ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ–२२६ ००४', को 'तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति' के नाम लखनऊ में देय चेक अथवा ड्राफ्ट द्वारा भेजने का अनुग्रह करें। मनीआर्डर से भेजने पर उसकी सूचना एक पोस्टकार्ड पर भी अपने पूरे नाम पते के साथ अवश्य भेजें। विदेशों के लिए पत्रिका का वार्षिक शुल्क २५ डालर है।

शोधादर्श चातुर्मासिक पत्रिका है और सामान्यतया इसके अंक मार्च, जुलाई व नवम्बर में प्रकाशित होते हैं।

शोधादर्श में प्रकाशनार्थ शोधपरक एवं अप्रकाशित लेख आमंत्रित हैं। लेख कागज के एक ओर सुवाच्य अक्षरों में लिखित अथवा टंकित होना चाहिये और उसमें यथावश्यक सन्दर्भ/स्रोत सूचित किये जाने चाहियें। यथासंभव लेख ३–४ टंकित पृष्ठ से अधिक न हो। *लेख की एक प्रति अपने पास अवश्य रख लें। अप्रकाशित लेख–रचना लौटाना कठिन होगा।*

शोधादर्श में समीक्षार्थ पुस्तकों तथा पत्र–पत्रिकाओं की *दो प्रतियां* भेजी जायें।

शोधादर्श में प्रकाशित लेखों को उद्धरित किये जाने में आपत्ति नहीं है, परन्तु *शोधादर्श* का श्रेय स्वीकार किया जाना और पूर्ण सन्दर्भ दिया जाना अपेक्षित है।

प्रकाशनार्थ लेख और समीक्षार्थ पुस्तक/पत्रिका सम्पादक को ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ–२२६ ००४, के पते पर भेजे जायें।

लेखक के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी है।

सभी विवाद लखनऊ में स्थित सक्षम न्यायालयों /न्यायाधिकरणों के क्षेत्राधिकार के अधीन होंगे।

सुधी पाठक कृपया अपनी सम्मति और सुझावों से अवगत करावें ताकि पत्रिका के स्तर को बनाये रखने और उन्नत करने में हमें प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन प्राप्त होता रहे। कृपया पत्रिका पहुँचने की सूचना भी देवें।

– सम्पादक